

जप-साधना

(बंगला से अनुवादित)

प्रणेता

पुरीस्थित श्रीगोवर्द्धन-पीठाधीन योगिराज
श्रीमान् परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १००८ श्री श्री शंकर

पुरुषोत्तमतीर्थ स्वामीजी महाराज

अनुवादक

तच्छिष्य विष्णुतीर्थ

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा।।
मानसं कर्मजं वाग्जं लोके तन्नास्ति कल्मषं।
सर्वाशुभघ्न - शिवदं यद् हरेर्नामकीर्तनम्।।

सिद्धयोगाश्रम

छोटी गैबी, वाराणसी

प्रकाशक :

स्वामी नारायणतीर्थ

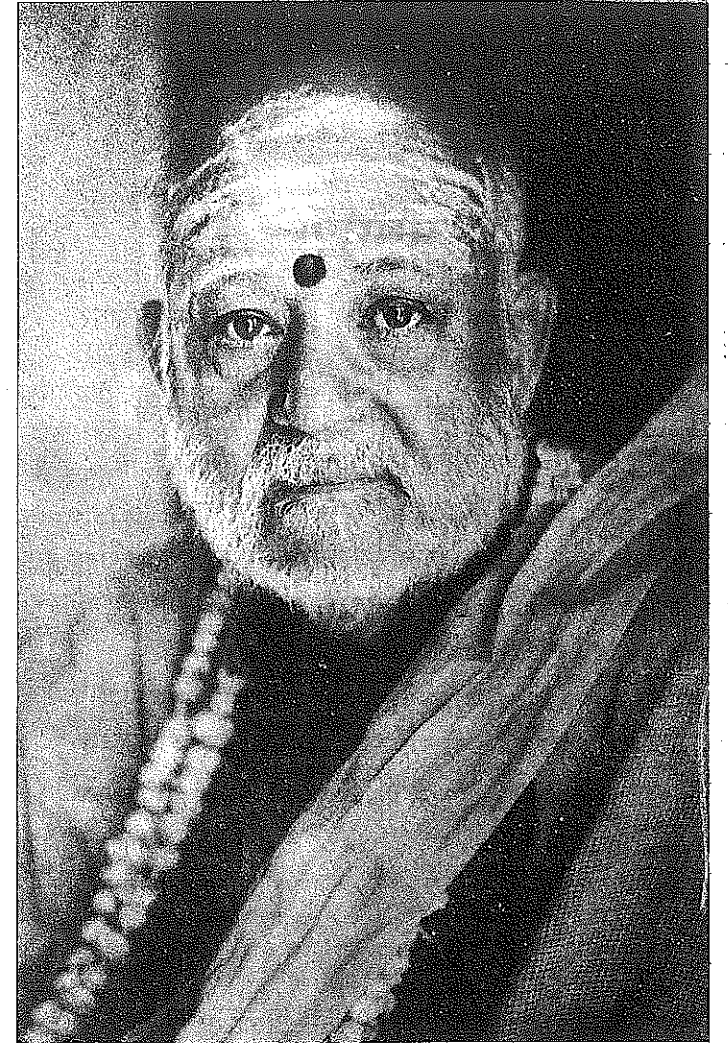
सिद्धयोगाश्रम, छोटी गैबी, वाराणसी

मूल्य : Rs - 50/-

प्रथम संस्करण - सन् १९४१

द्वितीय संस्करण - सन् १९५६ संख्या ११००

तृतीय संस्करण - सन् १९९८ संख्या ११००



ब्रह्मलीन परमपूज्य १००८ स्वामी श्री शंकर पुरुषोत्तमतीर्थ जी महाराज

आविर्भाव तिथि — **वैशाख शुक्ल षष्ठी , संवत् १९४६**

निर्वाण तिथि — **भाद्रपद शुक्ल एकादशी , संवत् २०१५**

समर्पण

मदीय आराध्यदेव पुरीधामस्थ श्रीगोवर्धन मठाधीश्वर
श्री १००८ जगद्गुरु श्री शंकराचार्य
श्री श्री भारतीकृष्णतीर्थ स्वामीजी महाराज
के श्रीचरणकमलों में गंगाजल से गंगाजल के
पूजन के सदृश यह जप - साधना
श्रद्धाञ्जलि स्वरूप समर्पण
करता हूँ।

सिद्धयोगाश्रम
छोटी गैबी, वाराणसी
१९.६.१९४१ ई.

एकान्त अनुगत सन्तान
पुरुषोत्तम तीर्थ

प्रकाशक का निवेदन

'सदाशिवोक्तानि सपादलक्षलयावधानानि वसन्ति लोके' परमपूज्यपाद श्रीमच्छंकर भगवत्पाद की इस उक्ति के अनुसार मनोलय के बहुसंख्यक साधन प्रचलित होते हुए भी भगवन्नाम-स्मरण एवं जप-साधन सर्वोपरि एवं सर्वसाधारण के लिये सरल साध्य है। 'स्वाध्यायान्मा प्रमदः' अर्थात् स्वाध्याय में प्रमाद मत करो, श्रुति के युक्त अनुशासन में स्वाध्याय का अभिप्राय मोक्षप्रद शास्त्रों के अध्ययन और भगवन्नाम-स्मरण एवं जप दोनों से है। ऐसी व्यासोक्ति भी है-

स्वाध्यायाद्योगमासीद् योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते।।

भगवन्नामों के जप की प्रणाली सनातन वैदिक धर्म में तो सर्वमान्य है ही, परन्तु अन्य देशों में और अन्य धर्मावलंबियों में भी अपने-अपने धर्मग्रंथों के आधार पर भगवान् के किसी न किसी नाम अथवा मंत्र का जप किया जाता है।

श्री १००८ गुरु महाराज श्री स्वामी जी की बंगला-भाषा में लिखित जप-साधना पुस्तक का प्रकाशन सन् १९४३ ई. में हुआ था। बंगला-भाषी समाज में उसका यथोचित स्वागत हुआ। जप की विधि, नामजप का माहात्म्य, जप का भक्तियोग में स्थान और नाम-नामी का पारस्परिक सम्बन्ध और नामी की शक्ति का जप-द्वारा प्रादुर्भाव, गुरु-प्रदत्त नाम के जप की आवश्यकता और

विना गुरु से प्राप्त किये जप की व्यर्थता, शक्ति-संपुटित नाम या मंत्र, मंत्र-चेतन इत्यादि अनेक रहस्यों का श्री गुरु महाराज ने सरल भाषा में विवेचन किया है। बंगला-भाषा न जाननेवाले श्री गुरु महाराज के शिष्यों के आग्रह से हिन्दी अनुवाद के प्रकाशन की सेवा मुझे प्राप्त हुई है। तदर्थ मैं अपने को कृतकृत्य समझता हूँ और आशा करता हूँ कि हिन्दी जाननेवाले पाठकगण इससे लाभान्वित होंगे। भगवन्नाम-जप द्वारा भगवत्प्राप्ति का द्वार विना जाति, वर्ण अथवा लिंगभेद के सबके लिये खुला है। 'जाति-पाँति बूझे नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।' ईसाई, मुसलमान और अनेक अन्य जातियों में भक्त होते आये हैं, जिन्होंने नाम-स्मरण की महिमा मुक्त कंठ से गाई है। सत्य है-

हृदय से जिसने पुकारा उसे।
न लगी देर, बस न उबारा किसे?

तथापि श्री भगवान् का यह आदेश भी न भूलना चाहिये कि-

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

गीता

आजकल देखा जाता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के नवयुवक अपने-अपने कर्तव्यों से विमुख होते जा रहे हैं। शिखा-यज्ञोपवीत का तिरस्कार, संध्या, गायत्री से अनभिज्ञता और अन्य बलि-वैश्वदेव, पितृकर्म इत्यादि में श्रद्धा का अभाव दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। परन्तु साथ ही यह भी देखने में आता है कि आपत्ति के समय उनके परंपरागत संस्कार देवी देवताओं के अनुष्ठान, मंत्र-तंत्रों की सिद्धि के प्रति उन्हें प्रेरित करते हैं और वे बचपन से अपने वर्णाश्रम धर्मों से अनभिज्ञ रहने के कारण अंधकार में भटकते हैं तथा 'अंधेन नीयमाना यथान्धाः' के अनुसार अपने ही

जैसे धर्म के तत्त्व को न जानने वालों के चक्कर में पड़कर कहीं के नहीं रहते। मनुस्मृति में कहा गया है कि जो व्यक्ति अपने संध्योपासनादि नित्यकर्मों से विमुख है, उसका सब यज्ञ योगादि, भजन-पूजन निष्फल होता है, अतः हमारा निवेदन है कि यदि जप-साधक जप से सिद्धि चाहते हैं तो उन्हें पहले अपना संध्योपासनादि नित्यकर्म करना अनिवार्य है।

प्रकाशक :
स्वामी नारायण तीर्थ
सिद्धयोगाश्रम, छोटी गैबी, वाराणसी

अनुवादक का अनुवाक

शक्तिः परा वर्णपदमंत्रविग्रहा,
देवात्मिका देहमनसोः प्रभावती।
उद्बोधिता येन गुरुणानुकम्पया
वन्दे सदा तं शिवगुरुं शिवां च ताम्।।

श्री १००८ पूज्यपाद श्रीगुरु महाराज स्वामी जी प्रणीत इस '**जप साधना**' नामक बंग भाषा के ग्रन्थ का हिन्दी जानने वाले पाठकों के लाभार्थ अनुवाद करने का सुअवसर भी परम पावनी भागीरथी के तट पर भी हृषीकेष (ऋषिकेश) धाम में हिमाचल श्रेणियों के आँचल में बैठकर इस वर्ष प्राप्त हुआ। यह मेरे लिए सौभाग्य की बात है। जप, सब साधनों में प्रधान, स्वाध्याय का वास्तविक अंग और इष्टदेव प्राप्ति का मुख्य साधन होने के कारण ही श्री भगवान् ने 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' कहकर 'यज्ञो वै विष्णुः' यज्ञ ही विष्णु है, इस उक्ति के अनुरूप जप-साधन को अपना स्वरूप कहा है। सब यज्ञों में श्रेष्ठ जप-यज्ञ साक्षात् भगवान् स्वरूप ही है, इस अभिप्राय से श्री पूज्य स्वामी जी ने इस बात पर विशेष बल दिया है कि नाम और नामी में किंचित् भी भेद नहीं समझना चाहिये। परन्तु जिस नाम अथवा मंत्र का जप किया जाता है, वह शक्ति-संपुटित होना अनिवार्य है, क्योंकि भगवान् शक्ति से युक्त ही सगुण कहे जाते हैं और नाम अथवा मंत्र उस शक्ति की अभिव्यक्ति करानेवाला स्थूल रूप है। इतना बुद्धिगत होने पर यह

समझने के लिये अधिक बुद्धि की आवश्यकता नहीं कि शक्ति-संपुटित नाम अथवा मंत्र की प्राप्ति किसी ऐसे ही सामर्थ्यवाले शक्ति-सम्पन्न गुरु से होनी संभव है, जो अपनी शक्ति दूसरे को प्रदान कर सकता है और ऐसा ही गुरु, गुरु कहलाने का अधिकारी भी है, नहीं तो इस युग में 'कंठी बाँधी और कान फूँका', गुरुओं का अभाव नहीं, जो शिष्यों को अपनी आजीविकार्थ वृत्ति बनाकर गुरु-पद को बदनाम करते हैं और इसीलिए आज गुरु करना एक ढकोसला और लज्जा की बात समझी जाने लगी है। सच पूछो तो क्या बिना गुरु किसी ने कभी कोई विद्या प्राप्त की है? क्या स्कूलों के मास्टर या कालेजों के प्रोफेसर गुरु-पद वाच्य नहीं? फिर ब्रह्म ज्ञानप्रद परा-विद्या जैसी गुप्त और श्रेष्ठ आध्यात्मिक विद्या का बिना गुरु के प्राप्त होना कैसे संभव है? जो मनुष्य उस अध्यात्म-विद्या के पथ पर शिष्यों को आरूढ़ करने का सामर्थ्य रखता है, उसको गुरु कहना, उसकी सेवा करना, उसके चरण छूकर उसका आशीर्वाद प्राप्त करना क्या लज्जा की बात है? ऐसे समर्थ गुरु के प्रति भक्तिभाव भी स्वतः हृदय में अनायास उत्पन्न होना स्वाभाविक है, क्योंकि प्रेम, भक्ति, सेवा तो किसी से अनुग्रह पाकर अनुगृहीत होने के लक्षण ही तो हैं। जो अनुगृहीत ही नहीं, उसकी श्रद्धा, भक्ति, सेवा इत्यादि तो एक रूखा बाह्य लोकाचार मात्र है। जो भाग्यशाली स्त्री-पुरुष किसी समर्थ गुरु के कृपापात्र बनकर अनुगृहीत होते हैं, उन्हें गुरु में भक्ति पैदा करने के लिये गुरु-भक्तों के दृष्टान्त पढ़ने की कोई अपेक्षा नहीं।

जिस क्रम से गुरु अपनी शक्ति का शिष्य में मंत्र, स्पर्श अथवा अवलोकन द्वारा संचार करता है, उसे शक्तिपात-दीक्षा कहते हैं। ऐसी दीक्षा में गुरु-प्रदत्त नाम अथवा मंत्र-जप से शिष्य की आध्यात्मिक शक्ति कुण्डलिनी का क्षणों में जागरण हो जाता है

और उसी को मंत्र-चेतन होना कहा जाता है तथा यही क्रम मंत्र-चैतन्य के नाम से विख्यात है। वर्षों जप करते-करते बीत गये और जहाँ के तहाँ बने हैं, यह बात शक्तिपात-दीक्षा में नहीं। इतना जान लेने के पश्चात् पाठक स्वयं इस सिद्धान्त को बिना आपत्ति स्वीकार कर लेंगे कि ईश्वर, उसकी अनुभव में आने वाली शक्ति, उस शक्ति को जगानेवाला शक्ति-संपुटित चेतन, स्थूल देहस्वरूप नाम अथवा मंत्र और ऐसे मंत्र का उपदेश करने वाला गुरु, चारों एक ही हैं और एक शिवजी के बाह्य भेदमात्र हैं।

दूसरे अध्याय में श्री पूज्य स्वामीजी ने मंत्रविज्ञान का रहस्य वाणी के उच्चारण करने के स्थान कंठ, तालु , ओष्ठ (ओंठ) आदि स्थानों के आधार पर समझाया है। यहाँ पर 'शारदातिलक' एक तंत्रशास्त्र के अनुसार वर्णमाला का ईडा, पिंगला और सुषुम्ना तथा पाँचों तत्त्वों के साथ सम्बन्ध दिखाया गया है। पृष्ठ १२ पर दिये नक्शे में तीनों का संबंध एक साथ आसानी से दिख सकेगा। व्याकरणाचार्य महर्षि पाणिनि ने भी अ इ उ ण् आदि इस प्रथम सूत्र में जो क्रम दिया है, वह भी शारदा-तिलकोक्त तत्त्वों के क्रमानुसार प्रतीत होता है, क्योंकि जप का पाञ्च-भौतिक देह से गहरा सम्बन्ध है और शारीरिक क्रियाएँ जो शक्ति के जागने पर कंपादि के रूप में प्रकट होती हैं, पाँचों तत्त्वों, ईडा, पिंगला और सब सुषुम्ना नाड़ियों और साथ ही षट्चक्रों से सम्बन्ध रखती हैं और सब चक्र भी तत्त्वों से संबंधित हैं। अतः वर्णमाला का इनसे संबंध समझना भी आवश्यक प्रतीत होता है।

एषु स्वराः स्मृताः सौम्याः स्पर्शाः शुभोदयाः।
आग्नेया व्यापकाः सर्वे सोमसूर्याग्निदेवताः।।(२, २)
ह्रस्वः स्वरेषु पूर्वोक्तः परो दीर्घः क्रमादिमे।
शिवशक्तिमयास्ते स्युर्बिन्दु-सर्गोवसानिकाः।।(२, ३)

तत्त्वात्मानः स्मृताः स्पर्शाः मकारः पुरुषो मतः।
दशैते व्यापकाः कामधनधर्मप्रदायिनः।।(२, ४)
बिन्दुः पुमान् रविः प्रोक्तः सर्गः शक्तिर्निशाकरः।
स्वराणां मध्यमं यच्च चतुष्कं तन्नपुंसकम्।।(२, ६)
पिंगलायां स्थिता ह्रस्वा ईडायां संगताः परे।
सुषुम्णायां मध्यगा ज्ञेयाश्चत्वारो ये नपुंसकाः।।(२, ७)
वाय्वाग्निभजलाकाशाः पंचाशल्लिपयः क्रमात्।
क्रमाद्यः र ल व श ष स हान्ताः प्रकीर्तिताः।।(२, ९)

शारदातिलक पटल

अर्थ - इन (वर्णों) में स्वर सौम्य (चंद्र के), स्पर्श सूर्य के, और व्यापक वर्ण य र ल व श ष स ह आग्नेय हैं। इस प्रकार सब वर्ण क्रमशः चन्द , सूर्य और अग्नि देवताओं से संबंध रखते हैं।

स्वरों में पहला ह्रस्व, दूसरा दीर्घ क्रम से शिव शक्तिमय हैं, बिन्दु शिव और विसर्ग शक्ति। स्पर्श वर्ण तत्त्वों से संबंधित कहे जाते हैं। मकार को पुरुष माना गया है। दसो व्यापक काम, धन, धर्म देने वाले हैं, बिन्दु को पुमान् और सूर्य कहा जाता है, विसर्ग को शक्ति और चन्द्रमा। स्वरों के मध्य चार ए ऐ ओ और औ नपुंसक हैं। ह्रस्व पिंगला में इडा में दीर्घ और सुषुम्ना में चारो नपुंसक स्थित हैं। ५० लिपि के स्वर वर्ण क से म तक और श ष ळ स ह सहित पाँच-पाँच क्रमशः वायु, अग्नि, पृथ्वी, जल और आकाश से संबंध रखते हैं।

इडा, पिंगला और सुषुम्ना क्रमशः सोम, सूर्य, और अग्नि की नाड़ियाँ हैं। इससे स्पष्ट है कि ॐ ऐं ह्रीं, श्रीं, रां, राम, हरिः शिव, ईश, ईश्वर, ईशान, ह्रीं स्वाहा, प्रभृति नामों के अक्षर सुषुम्ना में स्थित वर्ण हैं और उनका जप सुषुम्ना में प्राणों का उत्थान करने में सहायक होना चाहिये।

वर्ण-विज्ञान और मंत्रों के रहस्य पर अधिक जानकारी के लिए अनुवादक लिखित अंग्रेजी की पुस्तक Divine Power अर्थात् 'देवात्म-शक्ति' देखें।

नीचे शारदा तिलक के अनुसार वर्णमाला का पाँचों तत्त्वों, छः चक्रों और इडा, पिंगला, तथा सुषुम्ना तीनों नाड़ियों से संबंध एक नक्शे द्वारा दिखाया जाता है।

	षट् चक्र														
पंच महाभूत	विशुद्ध			अनाहत			मणिपुर			स्वाधिष्ठान		मूलाधार		आज्ञा	गुरु चक्र
वायु	ह्रस्व अ	दीर्घ आ	ए	क्	च्	ट्	X	त्	प्	X	य्	X	ष्	X	X
अग्नि	इ	ई	ऐ	ख्	छ्	ठ्	X	थ्	फ्	X	र्	X	X	क्ष्	X
पृथ्वी	उ	ऊ	ओ	ग्	ज्	X	ड्	द्	X	ब्	ल्	X	X	X	ल्
जल	ऋ	ॠ	औ	घ्	झ्	X	ढ्	ध्	X	भ्	X	व्	स्	X	X
आकाश	ऌ	ॡ	अं	ङ्	ञ्	X	ण्	न्	X	म्	X	श्	X	ह्	X
लिंग	पुमान्	स्त्री	नपुंसक												
नाड़ी	पिंगला	ईडा	सुषुम्ना												
	ईडा (चन्द्र)			पिंगला (सूर्य)						सुषुम्ना (अग्नि)					
वर्ण भेद	स्वराः			स्पर्शाः						व्यापिकाः					

अनुस्वार = पुमान्, विसर्ग = शक्तिः

चतुर्थ अध्याय में श्री पूज्य स्वामीजी ने सब नामों में एक ही अखंड परम तत्त्व का समन्वय दिखाकर हिन्दू जाति ही नहीं वरन् समस्त मानव समाज का हित किया है। जबकि एक धर्मावलंबी दूसरे से और एक ही धर्म का एक संप्रदाय अन्य से धर्म के नाम पर द्वेष करता है और द्वेषभरे भावों को उत्तेजना देकर प्रेम एवं आनन्दस्वरूप भगवान् की सुन्दर सृष्टि को असत्य और अशान्ति का घर बना रहा है। राम, कृष्ण, काली, दुर्गा गणपति, शिव, अल्लाह, खुदा, गॉड सब एक ही परब्रह्म परमपिता के नाम हैं। वह द्वेष का बीज बोकर उस विश्वेश्वर के क्रोध का पात्र बन जाता है। उस व्यक्ति की उपासना संकीर्ण होने से उस तक नहीं पहुँच सकती, वरन् उसके अधःपतन का ही कारण बन सकती है।

पुस्तक के परिशिष्ट भाग में श्री पूज्य स्वामीजी ने कुछ पौराणिक गुरु-भक्तों की गाथायें दी है। उनके दृष्टान्तों का एक पक्ष यद्यपि गुरु-भक्ति की पराकाष्ठा दिखता है परन्तु दूसरा पक्ष गुरु का पाषाणवत् कठोर हृदय भी सिद्ध करता है। उपमन्यु और वेद के समर्थ गुरुदेव धौम्य ऋषि की कठिन परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर गुरु के आशीर्वाद मात्र से सर्वविद्या-संपन्न होने का समय आने से पूर्व ही न जाने कितने शिष्य हताश होकर विद्या-शून्य हो लौटे होंगे। विना भोजन सेवा करने की कठिन तपस्या से इस दिन का शिष्य तो पहले ही दिन भाग जायेगा और एकलव्य की तरह यदि गुरु-दक्षिणा में अँगूठा कटवाने की नौबत आई तो भगवान् ही रक्षा करें। न जाने क्या होगा। आज तो Spare the rod and spoil the child अर्थात डंडे का प्रयोग न करके बालक को बिगाड़ने वाले प्राचीन सिद्धान्त का सर्वथा परित्याग करके सप्रेम शिक्षापद्धति का प्रचार किया जा रहा है। अस्तु। तथापि पाठक यह न समझें कि ऋषि धौम्य और आचार्य द्रोण का हृदय दया और

प्रेम जैसे दिव्य गुणों से शून्य था। उनका व्यवहार यद्यपि कठोर दिखता है, परन्तु वह स्वार्थ को लेकर अथवा क्रोधवश विना विशेष अभिप्राय के नहीं था। उपमन्यु पुराणोक्त कथा के अनुसार अधिक खानेवाला, आलसी और उदरपरायण होने के कारण मूढ-बुद्धि था, जो भूख को थोड़ी देर भी सहन नहीं कर सकता था। गुरु महाराज ने उसको उन दोषों से मुक्त कराने और उस युग के जीवन स्तर के अनुकूल तितिक्षा एवं सहनशक्ति बढ़ाने, क्षुधा सहन करने का अभ्यास कराने एवं उपार्जन करके आजीविका करने की शिक्षा देने के अभिप्राय से ऐसी नीति अपनाई होगी। एकलव्य के प्रति जो व्यवहार किया गया, उसका अर्थ केवल अर्जुन की मान मर्यादा की रक्षा करना ही न था, किन्तु एकलव्य निषाद एक ऐसी जाति से सम्बन्ध रखता था, जिसका पेशा लूट-मार करना और डाके डालना था। उसके हाथ में धनुर्विद्या का होना अपराधों को प्रोत्साहन देना था। इसीलिए उसे अनधिकारी समझकर पहले ही दीक्षा देने से मना कर दिया गया था और ज्ञात होने पर उसे दण्ड के तौर पर नहीं, परन्तु अपराधों को रोकने के लिए एक राजगुरु को ऐसा करना उचित हुआ। आज भी कुछ जातियों को मुजरिम पेशा Criminal Tribes ठहराकर जनरक्षार्थ सरकारों को प्रतिबन्ध लगाने पड़ते हैं। साथ ही यह भी ध्यान देने की बात है कि एकलव्य जातीय भील आज भी अंगूठा न लगाकर अच्छी तीरंदाजी करते हैं। यह विद्या-कौशल जाति-परम्परागत उनमें एकलव्य की ही देन है।

एक प्रश्न उठता है कि क्या प्राचीन आर्य-जाति की पतिव्रता साध्वी स्त्रियों में ऐसी हीनचरित्रा स्त्री को भी स्थान था, जो ऋतुमती होने पर अपने पति की अनुपस्थिति में किसी अन्य पुरुष से और फिर पुत्रवत् शिष्य से संभोग की इच्छा करे, जो उसके पति महर्षि वेद का इतना विश्वासपात्र था कि गुरुदक्षिणा पूछने के लिये उस

शिष्य को उसी स्त्री के पास भेजा जाय। वास्तविकता यह थी कि उत्तंक समावर्तन के योग्य नवयुवक ब्रह्मचारी था, जिसकी रक्षा में गुरुदेव अपना सारा घर सौंपकर बाहर चले गये थे। ऐसी अवस्था में गुरुकुल की स्त्रियों ने बुद्धिमत्ता से उत्तंक के चरित्र की परीक्षा ली थी।

नारायण कुटी,
देवास-मध्य प्रदेश।

अनुवादक
विष्णुतीर्थ

विषय सूची

जप साधन

आधार-कमलसंस्था, निद्रिता नरदुःखदा।
येन प्रबोधिता माता, तस्मै श्रीगुरवे नमः।।
शिष्याणां मोक्षदानाय, लीलया देहधारिणे।
सदेहेऽपि विदेहाय, तस्मै श्रीगुरवे नमः।।
येन कृपावलोकेन, नाशितं मोहबंधनम्।
प्रापितश्च ज्ञानानन्दस्तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

मानव - उद्देश्य तथा उसकी प्राप्ति का उपाय

वत्स, मरुभूमि में प्यासे मृग की तरह इस संसार-चक्र में मनुष्य जो वारंवार मारा-मारा फिरता है, उसका क्या कारण है? जीव इस लोक में जन्म लेता है, मरता है, परलोक गमन करता है और फिर इस लोक में लौटकर आता है, इसी प्रकार चक्रनेमि के सदृश बार-२ घूमता रहता है। इस आवागमन का हेतु क्या है? इस प्रकार दो चार जन्म नहीं, शत सहस्र जन्म नहीं, लाखों -२ जन्म जन्मान्तर में पड़ा हुआ, मोह से ठगा हुआ, कामना का ताड़ा हुआ और वासना से प्रेरित अतृप्त मनवाला मनुष्य असीम अनन्त काल के प्रवाह में बहता-बहता कितने देह धारण करता है और कितने देह का त्याग करता है। किन्तु हाय ! तो भी उसकी वासना की तृप्ति नहीं होती,

क्यों ? वह जो चाहता है, वह मिलता नहीं, इसलिए उसकी वासना भी पूर्ण होती नहीं, तृप्त होती नहीं। इसीलिए तो वासना के वश नानाविध कर्म करके इधर-उधर—स्वर्ग, मर्त्य, अंतरिक्ष और नरकादि अनेक लोकों में घूमता-फिरता है, तथापि उसके घूमने का अन्त नहीं आता। उसके हृदय की आकांक्षायें, उसके चित्त की तृष्णा मन की मन में ही रह जाती है। जिस वस्तु की खोज करता है, उसकी खोज करके भी उसका संकल्प पूर्णकाम नहीं होता और इप्सित वस्तु को पाकर समझता है कि अभी और भी प्राप्तव्य कुछ है।हाय! मनुष्य शुभाशुभ वासना के वश शुभाशुभ पुण्य-पापमय नानाविध कर्म करके किस-२ योनि में भ्रमण करता है, कितने ही सुखदुःखादि भोग भोगता है, तो भी उसकी आकांक्षायें नहीं मिटती, हृदय की आकांक्षा हृदय में रखकर नीरव हृदय से जिस वस्तु की टोह में है, उसको खोज तक नहीं पाता। इच्छित वस्तु की खोज करते - करते धातु, पत्थर, उद्भिजादि, कृमि - कीट, सरीसृपादि अनेक प्रकार के पक्षिगण, गो, वानरादि, पशुयोनि एवं मनुष्य, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व और देवता प्रभृति नीच और उच्च कितने ही देह धारण किये हुए हैं और कितनी ही दुःख यातनायें भोगी हैं, तो भी वह क्या चाहता है, किस वस्तु की खोज में है, यह जानकर भी मोह के वश उसको समझने में असमर्थ है। मनुष्य जो चाहता है, जिस वस्तु की खोज में है, उसको वह वस्तु यदि मिल जाती तब तो उसका उद्देश्य पूर्ण हो जाता, जन्म मृत्यु के चक्कर से सदा के लिये छूट जाता और शाश्वत शान्ति प्राप्त करके धन्य-धन्य हो जाता।

हे वत्स, एक बार विचारपूर्वक तो देखो कि वह हतभाग्य मनुष्य किस उद्देश्य से स्त्री,पुत्र,धनादि में आसक्त होकर उन स्त्री-पुत्र और धनादि के कारण ही इतना दुःख, इतना संताप भोगता

रहता है, फिर वह नाम, यश और प्रतिष्ठा की आशा से क्या-क्या नहीं करता और फिर उसके बदले में पाता है क्या ? गर्भवास का महान कष्ट। वह वेद वेदांगादि नाना शास्त्रों का अध्ययन करने में कितना समय और परिश्रम करता है और उसके बदले में पाता है क्या ? पांडित्य का मदान्ध अभिमान, जिससे वह सर्वदा बिच्छू के डंक के सदृश यातना ही भोगता है। यातना की शान्ति के निमित्त, दीर्घ दुःख के नाश के निमित्त, चिर शान्ति की प्राप्ति की आशा से नाना प्रकार की चेष्टायें क्या मनुष्य नहीं करता ? किन्तु उसके दुःख की वृद्धि ही होती है, कमी नहीं।

मनुष्य तो दुःख चाहता नहीं, फिर उसको इतना दुःख क्यों ? हे हतभाग्य जीव, तू दूध की आशा से सुरा पात्र को मुख से लगाकर सुरापान करके आज घोर उन्मत्त हिताहित-ज्ञान-रहित और विचार बुद्धिहीन हो गया है। आज तू अमृत की आशा से मृत्यु को ग्रहण करके महादुर्दशा में पड़ा है।

तू मोह के वश में होने के कारण इस मरणशील हाड़ माँस के पिंजरे में "अहम्" और "मम" का अभिमान करके इतना दुःख और कष्ट भोगता है, तेरा यह मोह ही तो तुझे तेरे स्वाभाविक निजबोधरूप अमृत के स्वाद से वंचित कर रहा है। तू, चाहे कितना भी चाहे कि दुःख न हो, परन्तु दुःख तुझे किसी काल में नहीं छोड़ता। तुझको जो दुःख की चाह नहीं है, उसी से तुझको समझना चाहिये कि तेरा उद्देश्य सच्चे आनन्द की प्राप्ति है, अर्थात् उस सुख की प्राप्ति है, जहाँ दुखों का स्पर्श तक नहीं। मनुष्य संसार में स्त्री, पुत्र, मित्र, वित्त और संपदादि के होते हुए भी सदा सुख की जगह इतना दुःख पाकर जर्जरित होता रहता है। एक वस्तु को सुख की आशा से ग्रहण करता है, दूसरे ही क्षण में अति मानसिक कष्ट पाता है पर फिर भी थोड़ी देर बाद उसी से सुख की आशा

कर फिर उसी दुःखदायी वस्तु को दृढ़तापूर्वक पकड़कर वैसे ही मतवाला हो जाता है जैसे कुत्ता सूखी हड्डी चबाकर उसी में मस्त रहता है। इसका क्या कारण है ? मोह ही है। स्वरूपोपलब्धि, मुक्ति-प्राप्ति और ईश्वर का साक्षात् कराने में सुसमर्थ इस उत्तम नर देह को पाकर भी मोह ने तुमको पशु से भी अधम पशु बना रक्खा है। यह मोह ही तुमको यह विचार नहीं करने देता कि इस अनित्य वस्तु में इस नश्वर दृश्य-प्रपंच में, नित्य सुख अर्थात् नित्य शान्ति, नित्यानंद पाया नहीं जा सकता। जिसकी उत्पत्ति है उसका नाश भी अवश्य है, जिसका नाश होना है वह तो मृतक है ही और उसका आश्रय लेकर क्या कोई कभी शांति पा सका है, पाता है अथवा पाएगा ? कहो तो रे मनुष्यों! मोह में पड़कर तुम्हारी श्रवण शक्ति भी बधिर हो गई है, इसलिए तो तुम "भूमैव सुखं, नाल्पे सुखमस्ति" श्रुति की इस महती वाणी को नहीं सुनते। जिस वस्तु का नाश नहीं, जो वस्तु भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों में एक रूप रहती है, जो वस्तु देश, काल और पात्रादि द्वारा परिच्छिन्न नहीं, जिसकी अपेक्षा कुछ भी बड़ा नहीं, वही भूमा कहलाती है। वह भूमा अर्थात् ब्रह्म ही सुख स्वरूप है, और जिसका नाश होता है, जो समय-समय पर बदलता रहता है, जो देश कालादि द्वारा परिच्छिन्न है, वही अल्प है, और अल्प में अनित्य दृश्य-प्रपंच के अस्थायी नाशशील विषयों में सुख की आशा कहाँ ? सुख की आशा से उसका आश्रय लेने से केवल दुःख ही भोगना पड़ता है। उपनिषद् में कहा है "यो वै भूमातत्सुखं नाल्पेसुखमस्ति। भूमैव सुखं भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य इति" (छान्दोग्य)। जो भूमा अर्थात् महान् और नित्य है, वही सुख स्वरूप है। इसी प्रकार जो अल्प अर्थात् परिच्छिन्न अतः नश्वर अर्थात् विकारवान्-नाशशील है, उसमें सुख नहीं। वह भूमा ही, वह महान् सुख स्वरूप ही, आनन्द स्वरूप है। इसलिए यदि आनन्द की इच्छा है तो उस भूमा को ही जानने का अभिलाषी बनना चाहिये।

वत्स! "यत्र नान्यत् पश्यति, नान्यच्छृणोति, नान्यद्विजानाति स भूमा, अथ यत्रान्यत् पश्यति, अन्यच्छृणोति, अन्यद्विजानाति तदल्पम्। यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्" अर्थात् जहाँ अपने से पृथक अन्य पदार्थ का दर्शन, श्रवण या प्रतीति न हो वही द्रष्टा- दृश्य-दर्शन, श्रोता-श्रव्य-श्रवण, ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान इत्यादि त्रिपुटी-भेद रहित शाश्वत भूमा है और द्रष्टा जहाँ अविद्या के वश अपने से पृथक अन्य पदार्थ का दर्शन, श्रवण और प्रतीति करता है वही अल्प अचिरस्थायी है। जो भूमा है, वह अमर है, जो अल्प है, वही मर्त्य अर्थात् मरणशील है।

नित्य शान्ति-स्वरूप, सुख-स्वरूप भूमा का त्याग करके अल्प में इस अनित्य नाम रूपात्मक सांसारिक विषयों में, उस निरतिशय आनन्द का भोग चाहते हो, उसका स्वाद चखने की इच्छा करते हो, इसीलिए तो रे मूढ़! तुम अपनी असली शान्ति से च्युत होकर बार-बार केवल दुःख ही भोगने के लिये जन्म लेते हो, मरते हो। क्या नहीं सुना है कि अर्जुन को निमित्त करके जगद्गुरु भगवान श्रीकृष्ण ने कहा था-'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।" इस अनित्य और सुख-लेशहीन मर्त्यलोक में आकर अर्थात् मरणशील संसार में रहकर सच्चिदानन्द स्वरूप मुझ आत्मपुरुष का भजन और मेरी ही उपासना कर। श्रीभगवान के इस महान् उपदेश को तुम नहीं सुनते और इस दृश्य-प्रपंच को देखते हुए भी कि यह सदा नाश होता रहता है, तुम्हारे मन में इन नाशशील सांसारिक विषयों के प्रति वितृष्णा नहीं उदय होती और मोह के पाश शिथिल नहीं पड़ते। यही तो है तुम्हारा अविवेकरूपी महा अनिष्टकारी बड़ा पाप।

इस अविवेक ने ही तुमको नित्यानित्य वस्तु विचार से दूर रखकर रस्सी से बँधे पशु के सदृश मोहपाश से बाँधकर इस दुःखपूर्ण संसार सागर में डुबा रक्खा है। इस अविवेक का ही नाश करो, तब वैराग्य उत्पन्न होकर क्रमशः बढ़ने लगेगा। इसके लिए नित्यानित्य वस्तु का विचार करना चाहिए।

हे वत्स ! अज्ञान के प्रबल होने से तुममें अविवेक और अविचार की उत्पत्ति हुई है। जैसे रज्जु सम्बन्धी अज्ञान रज्जु में सर्प की भ्रान्ति उत्पन्न करके मनुष्य को कितना भय देता है, वैसे ही आत्मा सम्बन्धी अथवा ब्रह्म विषयक अज्ञान भी तुम्हारी विवेक बुद्धि को मारकर नित्य आत्मा में अनित्य बुद्धि एवं अनित्य देहादिक में नित्य की भावना उत्पन्न करके तुमको सदा 'मैं' और 'मम' के मोह-सागर में डुबाकर नानाविधि दुःख देता है। अनात्म देहादि तुम नहीं हो और अनात्म देहादि तुम्हारे भी नहीं हैं। विचार के अभाव-वश उन्हीं अनात्म देहादि को 'मैं' और 'मेरा' मानकर तुम अज्ञान के बन्धन को दृढ़ से दृढ़तर करते हो। परम पिता परमेश्वर में तुम्हारी भक्ति नहीं परम पिता परमेश्वर विषयक तुमको ज्ञान नहीं, इसी से तुम्हारा अज्ञान, अविवेक बढ़ता - फलता - फूलता है। त्रिपाद विभूति महानारायणोपनिषद् में कहा है- " कस्मादज्ञानप्राबल्यमिति ? भक्तिज्ञानवैराग्यवासनाभावाच्च।" अज्ञान की प्रबलता होने का कारण क्या है? भक्ति ज्ञान और वैराग्यजन्य संस्कारों के अभाववश अज्ञान की प्रबलता होती है। वत्स ! जिस दिन माता के गर्भ में नवें मास स्वकीय पूर्व जन्म के शुभाशुभ कर्म स्मरण करके महान् दुःख झेल रहे थे, तब गर्भ यातना से कातर होकर उस समय के दुःख का प्रतिकार करने का उपाय न देखकर, प्रभु की शरण में जाकर क्या तुमने अपने मन में यह प्रतिज्ञा नहीं की थी—

यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं प्रत्प्रपद्ये महेश्वरम्।
अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायकम्।।
यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये नारायणं।
अशुभक्षयकर्तारं फल-मुक्ति-प्रदायकम्।
यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्सांख्यं योगमभ्यसे।।
अशुभक्षयकर्तारं - फलमुक्ति-प्रदायकम्।
यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं ध्याये ब्रह्म सनातनम्।।

गर्भोपनिषत्

अर्थात् यदि मैं इस योनि से उद्धार पाऊँगा अर्थात् योनि से बाहर हो जाऊँगा तो पापनाशक और फल-मुक्ति दाता श्री महेश्वर की शरण लूँगा, यदि मैं इस योनि से छूट जाऊँगा तो पापनाशक फल और मुक्ति के दाता नारायण की शरण लूँगा, यदि मैं इस योनि से उद्धार पाऊँगा तो पापनाशक और मुक्ति-प्रदायक ज्ञान और सांख्ययोग का अभ्यास करूँगा। यदि मैं इस योनि से छूट जाऊँगा तो नित्य सनातन ब्रह्म का ध्यान करूँगा। हे वत्स ! क्या तुमने अपनी उस प्रतिज्ञा की रक्षा की, जिसकी कृपा से तुमने भीषण गर्भयन्त्रणा से दुःसह नरक के भोग से रक्षा पाई है? जिसकी कृपा से तुम मुक्त हुए हो, क्या उसकी शरण में जाकर उसका नाम स्मरण और उसका ध्यान किया है? क्या तुम्हारी उसमें भक्ति है? उसका तत्व जानने की जिज्ञासा कहाँ है?

हाय ! न तुमने किया ज्ञान का विचार, न किया है योगाभ्यास। तुम अशुभक्षयकारी मुक्तिदाता महेश्वर और नारायण की शरण में जाकर उसके ध्यान और नाम कीर्तन द्वारा अपनी मुक्ति की प्रतिबंधक, एक जन्म की नहीं, वरन् अनेक जन्म-जन्मान्तरों की संचित पापराशि का ध्वंस कब करोगे? ऐसा न करके तुम तो अनित्य

विषय भोगों में लिप्त होकर और मुक्ति की प्रतिबन्धक पाप-राशि का संचय ही कर रहे हो। अन्तःकरण को मलीन से मलिनतर बना रहे हो। कहाँ तो तुम्हें नित्य ब्रह्म का ध्यानाभ्यास करना चाहिये था और कहाँ तुम अनित्य हाड़-मांस के पिंड में आत्मबुद्धि करके घोर मतवाले हो रहे हो। हाय! भक्ति, ज्ञान और वैराग्य का अभ्यास न करके दुःख के कारण अज्ञान की वृद्धि कर रहे हो, किन्तु उसके नाश की चेष्टा भी क्या कभी करते हो? मुक्त्युपयोगी यह दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर भी यदि दुःख के कारणस्वरूप इस अज्ञान के नाश के लिए श्रीगुरु की शरण में नहीं गये और दुःख का नाश करने की चेष्टा नहीं की तब देहान्त होने पर दुःख का भी अन्त हो जाएगा और शान्ति मिल जायेगी, इसका हे वत्स! क्या प्रमाण है?

प्रत्येक मनुष्य की अपनी-अपनी मनोवृत्ति ही उसके भावी जन्म और दुःख-सुख भोगों का परिचय देती है। सात्विक, राजसिक और तामसिक भेद से जो जैसा कर्म करता है तदनुसार ही उसकी मनोवृत्ति बनती है और देहान्त के समय वैसी ही वृत्ति के अनुसार ऊर्ध्व, मध्यम और अधम योनियों में उसकी गति होती है :-

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वञ्च राजसाः।
तिर्य्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः।।

मनुस्मृति १२.४०

अर्थात् जो मनुष्य सत्वगुण की वृत्ति में स्थिर रहकर जीवन यात्रा करता है, वह देह त्यागने पर देवत्व पाता है, जो मनुष्य रजोगुण में अवस्थित रहता है, वह देह त्यागने पर मनुष्य जन्म पाता है और जो मनुष्य तमोगुण की वृत्ति से जीवन व्यतीत करता है, मृत्यु के उपरान्त वह पशु-पक्षियों की योनियों में जन्म लेता है। इस प्रकार गुणों के भेद से मनुष्य की जन्मान्तर में तीन प्रकार की गति होती है। श्री भगवान् श्रीमद्भगवद्गीता में कहते हैं-

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।।१४-१८।।

अर्थात् सत्वगुण प्रधान मनुष्य ऊर्ध्व लोकों को गमन करते हैं, रजोगुण प्रधान मध्य में रह जाते हैं, अर्थात् मनुष्यलोक में जन्म लेते हैं और निकृष्ट गुणावलम्बी तमःप्रधान अधोलोक में जाते हैं।

हे वत्स! इसका तात्पर्य यह है कि सकल सत्व-गुण प्रधान जो व्यक्ति जप, तप, योग, ध्यानादि में सदा रत रहते हैं, वे मरने पर सत्त्वोत्कर्षण के तारतम्यानुसार गंधर्व, पितृ, देव और इसी प्रकार सत्यलोक अर्थात् ब्रह्मलोक पर्यन्त जाने को समर्थ होते हैं। रजोगुण प्रधान मनुष्य सकाम कर्म जैसे मन्दिर, तालाब और कुँवे आदि की प्रतिष्ठा और पूजा द्वारा, हमें इसका फल मिलेगा और समाज में हमारी मान प्रतिष्ठा होगी, ऐसी भावना से नाना प्रकार की पूजादि में सदा लगे रहते हैं, उनको देहान्त होने पर पुण्य-पाप मिश्रित मनुष्य लोक में ही फिर आना पड़ता है और जो सर्वदा आहार, आलस्य और निद्रादिपरायण रहते हैं, वे निकृष्ट गुणावलम्बी तमोगुण प्रधान मनुष्य हैं, ऐसे निकृष्टतमोवृत्ति में रहने वाले मरने पर पशु-पक्षि प्रभृति अधोयोनियों में जन्म लेते हैं, अथवा तमोगुण के तारतम्यानुसार अंधतामिस्रादि नरकों को जाते हैं। छान्दोग्य श्रुति (५,१०,७,८) में कहा है-

'य इह रमणीया चरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिंवाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकर योनिं वा चाण्डाल योनिं वा।।७।।

अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि जायस्व म्रियस्वेति।।८।।'

अर्थात् जो लोग शुभ कर्मों के अनुष्ठान में जीवन व्यतीत करते हैं, उनका ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, प्रभृति उत्कृष्ट वर्णों में जन्म होता है। जो लोग ऐसा न करके केवल पापानुष्ठान में ही जीवन व्यतीत करते हैं, वे लोग कुत्ता, शूकर, चाण्डाल प्रभृतिहीन जातियों, में जन्म पाते हैं और जो कि उपासना या कर्मानुष्ठान कुछ भी नहीं करते, उनको देवयान और पितृयान इन दोनों मार्गों में से किसी मार्ग से जाने का अधिकार नहीं होता, उनको क्षुद्र जन्तुओं की योनियों में जन्म-मरण प्रवाहरूप मार्ग से चलना पड़ता है।

वत्स ! यह देह नष्ट होने पर फिर पुण्य के अभाव से दुष्कर्म-वश यदि पशु अथवा स्थावरादि योनि प्राप्त करता है तब फिर कितने जन्मों के पश्चात् साधन के योग्य यह मनुष्य देह मिलेगा, इसका कुछ निश्चय नहीं। इसलिये, ऐसे उत्कृष्ट मनुष्य देह को पाकर इसे वृथा मत खोवो। देवता लोग भी मुक्ति की इच्छा से इसी मानव देह के लिए प्रार्थना किया करते हैं। मोक्ष का नाम सुनकर ऐसा मत सोचो कि 'मुक्ति परमानंद स्वरूप से भिन्न अन्य कोई वस्तु है। आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति होने पर जिस परमानंद की प्राप्ति होती है, उसी का नाम मुक्ति है। इस संसार में किसी प्राणी से पूछो कि 'तुम्हें क्या चाहिए' तो प्रत्येक यही उत्तर एक स्वर से देगा कि 'आनन्द चाहिए,' 'सुख चाहिए'। उस आनन्द अर्थात् परम सुख के मिलने पर मनुष्य को फिर कभी दुःख नहीं होता। मनुष्य बड़े भारी कष्ट में भी धीर, स्थिर, शान्त रहता है, विचलित नहीं होता। वह आनन्द यदि इस क्षणभंगुर नामरूपात्मक जगत् के विषयों के उपभोग में मिलता होता तो कोई भी ब्रह्म अथवा भगवान् की शरण में नहीं जाता और श्री भगवान भी यदि इस सदा परिवर्तनशील दृश्य-प्रपंच के सदृश नाशवान, अचिरस्थायी और दुःखदायी होते, तब भी कोई उस आनन्द लाभ के लिये उनको न पुकारता और

न उनकी उपासना करता। वे आनन्द स्वरूप हैं, इसीलिये तो सब लोग उनको पाने की इच्छा करते हैं। वह समिष्ट आनन्द स्वरूप हैं, उनको पा लिया तो सब आनन्द की प्राप्ति हो गई। इसीलिये सब वर्ण और सब जातियाँ उस नित्यानन्द की प्राप्ति के निमित्त उनका आश्रय लेती हैं, और उपासना करती हैं। उस नित्यानन्द स्वरूप, सुख स्वरूप को ही कोई 'भगवान', कोई 'ब्रह्म', कोई 'परमात्मा' कहते हैं। 'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते'। उस आनन्द स्वरूप श्री भगवान को पाने के प्रारंभिक उपायों के भोगों में आसक्त और शिश्नोदरपरायण क्षीणबल कलियुग के जीवों के लिये एक मात्र भक्ति भाव से 'जप साधना' अथवा 'नाम साधना' ही आनन्दस्वरूप भगवद्दर्शन- प्राप्ति के लिये सहज, सरल और सुगम उपाय है।

नाम जप से लाभ

वेदान्त दर्शन का सिद्धान्त है कि जगत् के नाम और रूप मिथ्या हैं, उसकी वास्तव में कोई सत्ता नहीं है। जो लोग अपने साधन बल से अद्वैत पद के पथ पर आरूढ़ हैं उनके लिए नानात्व नहीं। इस जगत् में एक को छोड़कर दूसरी वस्तु उनको नहीं दिखती, वे लोग 'वासुदेवः सर्व्वमिति' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'सर्वं विष्णुमयं जगत्' इत्यादि भाव अनुभव करते हैं, सुतरां उनके लिये नाम और रूप असत्य हैं, यह मानना पड़ेगा। जो लोग अद्वैत पद का कोई ज्ञान नहीं रखते, अद्वैत वस्तु को जो लोग जानते नहीं, एकमात्र जगत् को ही सत्य मानकर जगत् से इस प्रकार मिल गये हैं कि अपने आपको भुला दिया है अर्थात् नित्य-ज्ञान-स्वरूप और आनन्द-स्वरूप को भूल गये हैं, वे लोग किस तरह यह बात कह सकते हैं कि

जगत् के नाम रूप असत्य हैं? वे लोग जगत् को ही सत्यवत् मानकर तदनुरूप व्यवहार करते रहते हैं। इस जड़ देह को आत्मा मानकर उसके क्षय, नाश और वृद्धि इत्यादि में आत्मा का क्षय, नाश और वृद्धि इत्यादि मानते हैं। इसी प्रकार मनोधर्मादि भी आत्मा में न होने पर भी नित्य आनन्द स्वरूप आत्मा में मन के सुख दुःखादि धर्म आरोपित करके आत्मा को सुखी दुःखी मानते हैं, अर्थात् अपने को सुखी दुःखी समझते हैं। वे लोग अद्वैत पद का कुछ सन्धान नहीं रखते। वर्तमान युग में इस श्रेणी के मनुष्य अधिक हैं, उनको अपने आत्म स्वरूप में प्रतिष्ठित करने के लिये उनकी रुचि के अनुसार ऐसा साधन देना आवश्यक है, जिससे शीघ्र ही उनके मन की स्थिरता अर्थात् चित्त की एकाग्रता सिद्ध हो सके और मन अन्तर्मुखी होकर चेतन स्वरूप अन्तरात्मा में प्रतिष्ठित हो। श्री भगवान् अर्थात् आत्म तत्व के जिज्ञासुओं के लिये वर्तमान समय के अनुकूल साधनों से चित्त-शुद्धि करने वाला और मन को एकाग्र भाव में लाने वाला उत्कृष्ट मार्ग भक्ति सहित श्वास-प्रश्वास के साथ जप या नाम संकीर्तन है। मनुष्य के मन में स्वभावतः प्रति-मुहूर्त बहुत से विचार और विभिन्न भाव आकर मन को चंचल करके विक्षेप डालते रहते हैं, और नित्य नई-नई वासनायें उदित होकर मन को क्षिप्तप्राय करती रहती हैं। श्वास-प्रश्वास में जप अथवा नाम साधना की श्रेष्ठता यही है कि श्रीगुरु प्रदत्त शक्ति संपुटित नाम या मन्त्र बार-बार जप द्वारा मन में उस नाम या मन्त्र के सदृश एकदम स्पन्दन आरंभ करके मन की बहिर्मुखी गति को एक मुखी कर देता है। इस प्रकार नाम जप के समय मन में दूसरे विचारों को उठने का अवकाश नहीं मिलता और मन स्वयं ही विषयों के चिन्तन का त्याग कर देता है। मनुष्य के श्वास-प्रश्वास की क्रिया स्वभावतः अनवरत अनियमित रूप से चल रही है, प्राणायाम के द्वारा वह भी नियमित

हो जाती है, इसीलिए योग शास्त्रों में प्राणायाम की अत्यन्त आवश्यकता मानी गई है। परन्तु श्री सद्गुरूपदिष्ट शक्ति संपुटित मन्त्र अथवा नाम जप द्वारा प्राणायाम अपने आप ही होने लगता है और उसमें किसी प्रकार की हानि होने की संभावना नहीं होती। प्राणायाम के सब गुण, क्रिया मन्त्र और नाम जप के साधन में विद्यमान हैं, परन्तु शक्ति-संचार करने में समर्थ ऐसा गुरु मिलना अत्यन्त आवश्यक है। मन के किसी भी एक गहरे चिन्तन में लगे रहने पर प्राण आप ही स्थिर हो जाया करते हैं, परन्तु नाम जप ही गम्भीरता से किसी एक-विषयी ध्यान की शक्ति प्राप्त करने का एकमात्र सहज और निर्विघ्न मार्ग है। श्वास-प्रश्वास में मन्त्र अथवा नाम जप केवल सर्वापेक्षा सहज साध्य प्राणायाम की विधि ही नहीं, वरन् मन के निरन्तर नाम जप में लगे रहने पर नाम से उत्पन्न होने वाला स्पन्दन चित्त में उपस्थित होता है और तब चित्त अथवा मन नाममय हो जाता है, इस अवस्था में चित्त की सैकड़ों बाधायें और विकृत कंपन नामस्पन्दन की तरंगों में बहकर छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और मन संस्कारशून्य हो जाता है। यह सारी अवस्था यदि विचारपूर्वक देखी जाय तो मन्त्र अथवा जप के सदृश सरल और ऊँचा साधन दूसरा नहीं है। मन्त्र या नाम जप के द्वारा मन संस्कारशून्य हो जाता है और उसके साथ-साथ मस्तिष्क-कण विकसित होते हैं, हृदय में एक नई आनंद-धारा बहने लगती है और शारीरिक तथा मानसिक ग्लानि दूर हो जाती है। इस अवस्था में मनुष्य इच्छा करे तो बड़ी आसानी से नये विषयों को धारण करने की सामर्थ्य प्राप्त कर सकता है। इस अवस्था में विषयान्तर में मन न लगाया जाय तो मस्तिष्क-कण और भी विकसित होते हैं और उसके साथ-साथ भाव और प्रेम इत्यादि उमड़ने लगते हैं। मन्त्र या नाम जप का फल जीवन-शक्ति का विशुद्ध होना है और जीवन

शक्ति के केन्द्रीभूत कोष के प्रस्फुटन का फल यह होता है कि सहज और सरल ध्यान की धारा प्रवाहित होने लगती है और उस स्नायु-जाल को बल मिलता है, जो सारे शरीर के कल पुर्जों को बल देने में निरन्तर व्यस्त है। मन्त्र या नाम-साधन के द्वारा प्राणों की क्रिया होने पर जीवनी-शक्ति का क्षय-पथ बन्द हो जाता है और रक्त की विशुद्धि होने लगती है तथा वह शुद्ध रक्त शरीर और मस्तिष्क को बहुत तरह की सहायता देता है।

अब कौन सा मंत्र या कौन सा नाम जप के योग्य है, अथवा किस तरह मंत्र या नाम का उच्चारण करने से आसानी से हमारे उद्देश्य की सिद्धि होगी, इसकी संक्षेप में आलोचना करते हैं। जिस मन्त्र या नाम-जप से मस्तिष्क का कोषसमूह आप ही आप लगातार कंपित हो वही मंत्र या नाम-जप श्रेष्ठ समझना चाहिये। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वह कंप निम्नगामी न हो या नीचे उतरने न पावे और उसमें किसी प्रकार की बाधा न आवे। ये दोनों बातें लक्ष्य में रखकर जप के नाम का निर्वाचन करना चाहिए। इसके लिए गुरूपदिष्ट मंत्र या नाम ग्रहण के साथ मंत्र शक्ति अर्थात् कुण्डलिनी-शक्ति का जागरण बहुत आवश्यक है। इसी शक्ति की प्राप्ति को मंत्र-चैतन्य कहते हैं।

मूर्धन्य वर्णो का ही यह गुण है कि उनके उच्चारण से मूर्धा का स्नायुमण्डल अनवरत कंपित होने लगता है। ऋ ॠ ट ठ ड ढ ण र ष इन वर्णों का उच्चारण- स्थान मूर्धा है, ये मूर्धन्य वर्ण हैं। बिना जिह्वा के प्रयोग के शब्दों का उच्चारण सम्भव नहीं, अतएव मूर्धा का कम्पन निम्नाभिमुख न हो इसके लिए उनके साथ कंठ्य वर्णों का संयोग करना जरूरी है। अ आ क ख ग घ ङ ह कण्ठ्य वर्ण हैं। 'अकुह विसर्जनीयानां कण्ठः।' उ ऊ प फ ब भ म ओष्ठ वर्ण हैं। वक्षःस्थल और नाभि-देश की नाड़ियाँ स्पंदित करनी हों

तो कण्ठ और ओष्ठ के वर्ण ही सर्वापेक्षा अधिक कार्य करेंगे। इन कण्ठ्य वर्णों में दीर्घ स्वर आ और ओष्ठ्य वर्णों में ऊ कार्य करने वाले हैं। शरीर के नीचे के भागों की नाड़ियों में इन वर्णों के या चैतन्यधारा के संचालित होने पर यदि शरीर के ऊर्ध्व-भाग में मन स्थिर किया जाय, तभी धारा आसानी से ऊर्ध्वगामिनी हो जाती है। लृ त थ द ध न ल स दन्त्य वर्ण हैं। इस प्रकार संकेत द्वारा ॐ, राम, हरिः, हर, दुँ, द्रूँ, ह्रीं, क्रीं, क्लीं, रँ, राधा, कृष्ण, काली, दुर्गा इत्यादि सब मंत्र और नाम, जप तथा कीर्तन के लिये श्रेष्ठ हैं, यह निर्णय किया गया है।

मनुष्यों का मन स्वभाव से ही नीची भूमिकाओं में विचरण करता रहता है, संसार में ९९ प्रतिशत लोग संसारी विषयों में आसक्त रहते हैं, इसलिए जो मंत्र या नाम सर्वांग की नाड़ियों में अथवा नीचे के भागों में दृढ़ता से कंप उत्पन्न करते हैं वे उनके लिये बड़े आवश्यक और कल्याण-प्रद होते हैं। इसीलिये ऋषियों ने कण्ठ्य, ओष्ठ्य और दन्त वर्णों में से नामों का निर्वाचन किया है।

ॐ उच्चारण करने से अ ऊ म् का प्रयोग होता है, अ कण्ठ्य वर्ण और उ म ओष्ठ्य वर्ण हैं। ॐ के सदृश शरीर के मध्य और अधःस्थित स्नायु केन्द्रों में कम्प की शक्ति देने वाले अन्य शब्द नहीं हैं और एक विशेषता यह भी देखी जाती है कि प्रायः बीज मन्त्र सभी मूर्धन्य वर्णों के सहयोग से गठित हैं[1]।

जो लोग ध्यान करने में असमर्थ हैं, अथवा उपास्य देव में जिनका मन एकाग्र नहीं होता, उन लोगों को आलस्य छोड़कर

१. नोट : मंत्रों का रहस्य और वर्णमाला का पाँचों तत्त्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) छओं चक्रों (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा) और तीनों मुख्य नाड़ियों (ईडा, पिंगला और सुषुम्ना) के साथ संबन्ध, 'शारदा तिलक' तंत्र - शास्त्र के आधार देखें। *अनुवादक*

नियमित रूप से मन्त्र या नाम का जप करना आवश्यक है। जप का उद्देश्य ध्यान की स्थिति प्राप्त करना ही है। हम कह देते हैं कि उच्च स्वर से राग रागिनी और ताल के साथ नाम कीर्तन की आवश्यकता भी है। जप के द्वारा मन की चंचलता कम न हो तो, नाम-संकीर्तन में अधिक मन लगाना होगा और नाम कीर्तन द्वारा मन जितना अधिक मानसिक जप अथवा ध्यान में लगने लगे, उतना ही कीर्तन में मन कम लगना चाहिये। मन्त्र अथवा नाम के जपसाधन द्वारा चित्त को स्थिर करने के लिये शक्ति प्राप्त होने पर इस जगत् की सब दृश्य वस्तुओं में ब्रह्म या अपने इष्ट की भावना रखनी होगी, इस प्रकार भावना रखने से सब वस्तुओं में आत्मदर्शन होने लगता है। सच्चिदानंद ब्रह्म तो हम सब लोगों का ही स्वरूप हैं, उसकी तो 'अहम्' से पृथक भावना ही नहीं हो सकती, क्योंकि हमारा "मैं" ही तो "वह" है और जो "वह" है वही "मैं" है, इसलिये तब मालूम होने लगता है कि उसकी सत्ता से भिन्न अर्थात् उसके अस्तित्व के आधार के बिना किसी वस्तु की सत्ता नहीं है, सभी चिदाकाश के आधार पर स्थित हैं, केवल भ्रमवश एक अद्वितीय ब्रह्म नाना दिखलाई पड़ता है। इस प्रकार चिन्तन और ध्यान जब दीर्घकाल में स्थायी होगा तभी ब्रह्म भाव की उपलब्धि हो सकेगी। भृंगी एक प्रकार का कीड़ा होता है, वह अन्य कीड़ों को पकड़ ले जाकर अपने घर में रख लेता है, वे कीड़े अहर्निश भृंगी का ध्यान करते-करते अपना रूप बदल कर भृंगी (भौंरा) बनकर बाहर आ जाते हैं। ठीक इसी तरह मनुष्य भी निरन्तर ब्रह्म भावना करते-करते ब्रह्म ही हो जाता है। 'ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति'।

एक सच्चिदानंद ब्रह्म है, और वह सच्चिदानन्द ब्रह्म मैं हूँ और जो कुछ दिखाई दे रहा है, सभी ब्रह्म है, उसके सिवाय कुछ भी नहीं- जिनको इस प्रकार का अनुभव हुआ है, वे किसी को

भी अपने स्वरूप से पृथक नहीं देखते, उनको शोक, मोह और घृणादि कुछ भी नहीं रहते। श्रुति कहती है-

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।

ईशोपनिषत्

अर्थ- जो साधक सर्व प्राणियों को आत्मा में और आत्मा को सब प्राणियों में अवस्थित देखता है, वही सर्वात्मदर्शी पुरुष सर्वात्म-भाव-दर्शन के फलस्वरूप किसी से घृणा नहीं करता। इसका तात्पर्य यह है कि चैतन्य स्वरूप आत्मा 'मैं' यदि सब में स्थित है तो इस जगत में हमारा घृणा का पात्र कौन, और हम भी घृणा के पात्र किसके? जिस क्षण प्राणिमात्र में आत्मस्वरूप का अनुभव होगा, उसी क्षण एकात्मदर्शी को मोह या शोक कहाँ? अर्थात् जीव ब्रह्मैक्य-ज्ञान द्वारा जिसके शोक और मोह के मूल कारण अज्ञान का नाश हो गया है, उसको शोक और मोह नहीं रहते। ऐसे एकात्मदर्शी पुरुष ही स्वभाव से विश्व प्रेमी होते हैं और ऐसे पुरुष अथवा महात्मा यथार्थ दुर्लभ हैं। गीता में भगवान् कहते हैं-

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।।७-१९।।

अर्थ- बहुत जन्मों के पश्चात् सत्कर्म और तपस्यादि द्वारा पुण्य संचय करके ज्ञानवान अर्थात् जिनको ज्ञान की परिपक्व अवस्था प्राप्त हुई है, वे ही इस दृश्य जगत् में 'सर्व वासुदेवः' अर्थात् सब के प्रत्यगात्मा अर्थात् अन्तरात्मा के रूप में वासुदेव ही हैं, ऐसा ज्ञान प्राप्त करके मुझको प्राप्त होते हैं। ऐसा महात्मा सचराचर जगत् में देखने में नहीं आता अर्थात् अत्यन्त दुर्लभ है।

मनुष्य साधनादि द्वारा जब इस अवस्था में पहुँचता है तभी केवल वह मनुष्य कह सकता है कि जगत् के नाम और रूप मिथ्या हैं।

नदी को पार करने के लिए जैसे नौका का आश्रय लेना पड़ता है, और जब उस पार उतर जाते हैं, तब नौका का प्रयोजन नहीं रहता, इसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म को जब जान लिया, तब प्रतीक-उपासना की आगे आवश्यकता नहीं रहती। नाम और रूप दोनों उसके प्रतीक हैं। नाम और रूप का आश्रय लेकर जो उपासना की जाती है, उसको प्रतीक-उपासना कहते हैं। जब तक नाम और रूप की विस्मृति नहीं होती है, तब तक देह में आत्म बुद्धि है, उस समय तक ऐसे देहाभिमानी मनुष्य के लिए निर्गुण की उपासना अत्यन्त कष्ट साध्य है। गीता में श्री भगवान कहते हैं-

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।। १२-५।।

अर्थ- अव्यक्त अर्थात् नामरूप विहीन निर्गुण ब्रह्म में चित्त लगानेवाले पुरुषों को अधिक क्लेश होता है, क्योंकि देहादि में जिनकी आत्म बुद्धि है, उनके लिए वाणी और मन के अगोचर निर्गुण ब्रह्म को जानना नितान्त कष्ट साध्य है।

जिनको इस देह में आत्मबुद्धि है, जो अपना नाम और रूप भूल नहीं सकते और जो लोग स्त्री पुत्रादि के नाम और रूप के नशे में मत्त हैं, ऐसे अविद्या में फँसे लोगों के लिए, उनकी ममता और मोह को दूर करने के लिए, सगुण ब्रह्म के नामजप और रूपादि के ध्यान की व्यवस्था शास्त्रों में की गई है। अनित्य स्त्री पुत्रादि के नामरूपादि में आसक्त मनुष्य यदि कहें कि नाम रूप मिथ्या हैं, तो उनकी यह उक्ति सदैव अग्राह्य है। ऐसा उपदेश नामरूपों में फँसे मनुष्यों के प्रति शोभा नहीं पाता। ऐसे मनुष्यों को तो श्री भगवान के मधुर नाम और रूप पर आश्रित साधन और उपासना करना ही अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि आत्मा नामरूपातीत परमधाम से नामरूपात्मक संसार में पतित होकर जीव संज्ञा प्राप्त करती है, फिर उसको अपने परमपद पर उठने के लिए प्रथमतः नाम रूप के सहारे उठना पड़ेगा।

नामरूपात्मिका सृष्टिर्यस्मात्तदवलम्बनात्।
बन्धनान्मुच्यमानोऽयं मुक्तिमाप्नोति साधकः।।
तामेवभूमिमालंब्य स्खलनं यत्र जायते।
उत्तिष्ठति जनः सर्वोऽध्यक्षेनैतत् समीक्ष्यते।।

मन्त्रयोग संहिता

अर्थ- यह सृष्टि नामरूपात्मिका है इसलिये नाम रूप का अवलंब लेकर मुमुक्षु साधक संसार बन्धन से मुक्तिलाभ करता है। जैसे भूमि पर पैर फिसल कर गिरने पर उस भूमि का ही आश्रय लेकर उठा जाता है।

श्री भगवान के अनन्त नाम और रूपों में से जिनको जिस पवित्र नाम और पवित्र रूप की इच्छा हो, उसी का आश्रय लेकर भक्तिपूर्वक साधना करने पर सच्चिदानन्दस्वरूप श्री भगवान अथवा आत्मदेव हृदय में प्रकाशित होते हैं और अन्त में उसी सच्चिदानन्दस्वरूप में समस्त नामरूप विलीन हो जाते हैं, जैसे नदियाँ सागर में मिलकर विलीन हो जाती हैं। तब एकमात्र सच्चिदानन्द से भिन्न किसी नामरूप का पृथक अस्तित्व नहीं पड़ता। श्रुति कहती है-

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।

मुण्डकोपनिषत्

अर्थ- जैसे नदियाँ बहती-बहती अपने नामरूप त्याग कर समुद्र में जाकर अस्त हो जाती हैं, वैसे ही ब्रह्म का जानने वाला नामरूप से मुक्त होकर मन वाणी से अतीत अगोचर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है अर्थात् समुद्र-तुल्य ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति करता है।

साधना या उपासना के द्वारा जिन लोगों के चित्त निर्मल नहीं हुए हैं, जिनका मन क्षणिक रमणीय भोगों से वितृष्ण नहीं हुआ है, ऐसी श्रेणी के लोगों के सामने ब्रह्मज्ञान अथवा आत्मज्ञान प्रकाश करना अथवा वेदान्त का उपदेश करना महान् अनर्थ ही उपस्थित करता है।

एक समय भगवान् श्री जगद्गुरु श्रीमद्शंकराचार्य प्रचारित पवित्र ब्रह्मज्ञान का इस प्रकार अपव्यवहार होते देख महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य 'अहं ब्रह्मास्मि' इस महावाक्य का उच्चारण करने और सुनने से भयभीत होते थे, यद्यपि वे श्री शंकर सम्प्रदाय के भारतीनामा सन्यासी थे। इसीलिए वे तत्कालीन लोगों को ज्ञानयोग का अनधिकारी देखकर और जानकर भक्ति और नामसाधन के माहात्म्य का प्रचार कर गये हैं और साथ साथ मन्त्र और नाम द्वारा शक्ति-संचार करके बद्ध जीवों का उद्धार कर गये हैं।

नाम-माहात्म्य वर्णन

यह ध्रुव सत्य है कि भगवान के नाम से सर्वाभीष्ट की सिद्धि होती है। उसके नाम से मन्त्र जप, स्तुति, पाठ और कीर्तन द्वारा भाव, भक्ति और प्रेम की प्राप्ति होती है। इतना ही नहीं वरन् ईश्वर का साक्षात्कार पर्यन्त हो जाता है।

नाम्ना हि लभ्यते भक्तिर्भक्त्या प्रेम हि लभ्यते।
प्रेम्णा लभ्यते गोविन्दस्ततो नाम्नः परं न हि।।

वृहन्नारदीय पुराण

अर्थात् श्री भगवान के नाम अथवा मंत्र के जप एवं कीर्तनादि द्वारा भक्ति प्राप्ति होती है, भक्ति परिपक्व होने पर प्रेम आता है और प्रेम परिपक्व होने पर अद्वैत स्थिति में आत्मा अर्थात् गोविन्द की प्राप्ति होती है, इसलिए नाम परम्परा से आत्मा दर्शन अर्थात् गोविन्द की प्राप्ति होती है। अतएव नाम के बराबर दूसरा कुछ नहीं। श्रुति कहती है :-

एतद्ध्य वाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।।
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते।।

कठोपनिषत्

अर्थात् 'ॐ' यह अक्षर ही, आदि नाम बीज, सगुण और निर्गुण ब्रह्म का वाचक और प्रतिपादक मन्त्र है। कार्यब्रह्म और परब्रह्मस्वरूप यह अक्षर-मन्त्र ही उक्त उभय प्रकार के ब्रह्म का प्रतीक व प्रतिनिधि रूप है। इस अक्षर को ब्रह्म के दोनों प्रकार जानकर अर्थात् इस अक्षर की लक्ष्यार्थ सहित जो लोग उपासना करते हैं, वे जो-जो इच्छा करते हैं, वही सिद्ध होती है। अर्थात् जो मनुष्य निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म को जानना चाहता है, वह उस तत्त्व को जान सकेगा, अर्थात् जीवन काल में ही सुखदुःखादि द्वन्दों से अतीत होकर ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त होगा और जो उसकी सगुण भावना से उपासना करता है, वह सुख ऐश्वर्य आदि लाभ-पूर्वक ब्रह्मलोक को जाता है। इसलिए इस अक्षर या मन्त्र द्वारा परब्रह्म को जाना जाता है और अपर ब्रह्म को पाया जाता है। इसी कारण ॐकार की उपासना का अवलम्बन, ब्रह्म-प्राप्ति के अन्य सब साधनों में श्रेष्ठ, अत्युत्तम और उत्कृष्ट है। साधक इस आलम्बन को भली

भाँति ग्रहण करके स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाता है और ब्रह्मरूप होकर ब्रह्मलोक तक पूजित होता है। श्रुति वचन है :-

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं, सामभिर्यत्तत् कवयो वेदयंते तमोकारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परंचेति।

प्रश्नोपनिषत्

अर्थात् ऋग्वेद द्वारा मनुष्य लोक, यजुर्वेद द्वारा अन्तरिक्ष चंद्रादि लोक और सामवेद द्वारा सत्य लोक की प्राप्ति होती है, जिसका ज्ञान ऋषिगण को है। जो विद्वान् (ब्रह्म को जानने वाला) पुरुष अर्थ की भावना सहित ॐकार का अवलम्बन लेकर उसका आश्रय पकड़ता है, वह शान्त, अजर, अमर और अभय पद अर्थात् परम ब्रह्मपद को प्राप्त होता है।

दुराचार रतोवापि मन्नाम भजनात् कपे।
सालोक्यमुक्तिमाप्नोति न तु लोकान्तरादिकम्।।

मुक्तिकोपनिषत्

अर्थ- हे कपिवर! दुराचारी भी मेरे नाम के भजने से सालोक्य मुक्ति पाता है, अर्थात् ईश्वर के साथ उसके लोक में वास करता है, उसे अन्य लोकान्तर की प्राप्ति नहीं होती। महायोगेश्वर पतंजलि ऋषि अपने योग सूत्रों में लिखते हैं:-

'तज्जपस्तदर्थ भावनम्' अर्थात् ईश्वर के वाचक प्रणव का जप और उसके अर्थ का ध्यान अर्थात् प्रणव के अभिधेय चैतन्य-स्वरूप ईश्वर की भावना ही साधन का मूल है। वत्स! उसके नाम के जप और उसके अर्थ चिन्तन द्वारा जप करने वाले का मल बिना जाने दूर हो जाता है, चित्त शुद्ध हो जाता है, चित्तवृत्तिनिरोध रूपी योग की सिद्धि हो जाती है और पश्चात् बादलों में से निकले हुए सूर्य के सदृश आत्म-साक्षात्कार अथवा ईश्वरानुभूति होती है।

ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावाश्च !

योगदर्शन

अर्थात् ईश्वर के नाम का जप और उसके अर्थ का ध्यान करने से ईश्वर साक्षात्कार अथवा आत्मानुभूति होने पर्यन्त के अन्तराय (विघ्न) दूर होते हैं और फिर ईश्वर के अनुग्रह से मनुष्य को प्रत्यक् चेतन तत्त्व अर्थात् इस शरीरस्थ चैतन्य रूपी आत्मा का साक्षात्कार होता है। 'तज्जपस्तदर्थ भावनम्' इस सूत्र का भाष्य भगवान् श्री वेदव्यास जी इस प्रकार करते हैं।

प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावनम्। तदस्ययोगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं संपद्यते।

प्रणव का जप एवं प्रणव के अभिधेय अर्थात् प्रतिपाद्य चैतन्य रूपी ईश्वर की भावना करनी चाहिए। इस प्रकार प्रणव का जप और उसके अर्थ की भावना करने वाले योगी का चित्त एकाग्र होने लगता है, अर्थात् योगी जब प्रणव का जप और उसके अर्थ की भावना करता है, तब उसका चित्त एकमात्र भगवान् में एकाग्र होकर शान्त हो जाता है।

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याय-योग-संपत्त्या परमात्मा प्रकाशते।।

विष्णु पुराण में भी ऐसा ही कथन है।

अर्थ - साधक को चाहिए कि स्वाध्याय अर्थात् इष्ट मंत्रादि से जप से योगाभ्यास (समाधि के अभ्यास) में लगे और योगाभ्यास के साथ-साथ स्वाध्याय (जप) करे। स्वाध्याय और योगाभ्यास दोनों की साधना से परमात्मा के दर्शन होते हैं। 'स्वाध्यायादिष्ट देवता संप्रयोगः' इस सूत्र में भी यही बात कही गई है। एक जपमात्र द्वारा

ही परम पराक्रम से मन वाणी के अगोचर दुर्विज्ञेय ब्रह्मतत्व में स्थिति होती है।

श्रुतिमाला में भी ऐसा ही कहा गया है।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत्।।

मुण्डकोपनिषत्

अर्थ- अप्रमत्तचित्त, बाह्य विषयों से अनासक्त होकर प्रणवरूपी धनुष पर मन रूप शर चढ़ाकर ब्रह्मचैतन्यरूपी लक्ष्य को बेधना चाहिए। बाण का अग्रभाग जैसे मृगादि लक्ष्य में प्रविष्ट होकर अदृश्य हो जाता है, वैसे ही साधक का मन भी ब्रह्म में प्रविष्ट होकर तन्मय (ब्रह्म चैतन्यमय) हो जाना चाहिए। तब साथ-साथ ही 'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति' इस श्रुति-सिद्धान्त की सार्थकता सिद्ध होगी।

वत्स ! लक्ष्यवेध न होने पर्यंत जैसे व्याध अपने धनुष पर तीर चढ़ाकर अपने लक्ष्य पर तीर चलाता रहता है, उसी प्रकार जब तक अपने लक्ष्य स्वरूप परमानन्द ब्रह्म अथवा श्री भगवान का अपने अन्तर में अनुभव नहीं कर पाते हो, तब तक मन्त्र या नामरूपी धनुष पर मनरूपी शर चढ़ाकर बराबर चलाते रहो, अर्थात् गुरूपदेश के अनुसार सगुण ब्रह्म के स्थान भ्रूमध्य में अन्तरदृष्टि रखकर प्रत्येक श्वास-प्रश्वास में उसका नाम लेते रहो। श्री गुरूपदेश के अनुसार भक्ति-भाव में इस प्रकार नाम जपते जपते अपने आप ही मन अपनी चंचलता के स्वभाव का परित्याग करके श्री भगवान के रूप में तन्मय हो जायेगा अर्थात् ब्रह्म की ज्ञानसत्ता में अभिन्नता प्राप्त कर लेगा।

मनुस्मृति में कहा है 'जपनैव संसिध्येत' अर्थात् एकमात्र जप

द्वारा ही सिद्धि प्राप्त होती है, (काम्य फल प्राप्ति ब्रह्म प्राप्ति वा) जप के फल का माहात्म्य वर्णन करते हुए मनु कहते हैं-

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
ये पाकयज्ञाश्च चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः।
सर्वे ते जप यज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्।

अर्थ- दशपौर्णमासादि ज्योतिष्टोमादि प्रभृति विधि-यज्ञों की अपेक्षा उपयज्ञ दस गुणा अधिक मंगलप्रद है। पंच महायज्ञों के अन्तर्गत वैश्यदेव, होम, देवयज्ञ, बलिकर्म, भूतयज्ञ, नित्य श्राद्ध, पितृयज्ञ और अतिथि भोजन, नृयज्ञ, इन चारों महायज्ञों सहित यदि दर्श पौर्णमास प्रभृति विधि-यज्ञ समूह को एक ओर रक्खा जाय तो भी ये सब मिलकर प्रणवादि के जप यज्ञ की सोलहवीं कला की बराबरी नहीं कर सकते।

भगवान श्रीकृष्ण, अर्जुन से कहते हैं कि 'यज्ञानां जप-यज्ञोऽस्मि', वेद और स्मृति विहित जितने प्रकार के यज्ञ हैं उनमें जप-यज्ञ मैं हूँ।

वत्स ! एकमात्र श्री भगवान के नाम-स्मरण द्वारा ही सब प्रकार के यज्ञों का फल मिलता है। अन्य यज्ञों का पृथक अनुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं है। जप-यज्ञ भगवान ही हैं, इसलिये मन में यह धारणा रखनी पड़ेगी कि नाम और नामी में भेद नहीं है। बंगला भाषा की एक उक्ति है कि :-

जेई नाम सेई कृष्ण भज निष्ठा करि।
नामेर सहित फिरेन आपनि श्रीहरि।।

हिन्दी अनुवाद —

जो नाम है वही है कृष्ण भज निष्ठा करि।
नाम के साथ फिरते हैं आप श्रीहरि।।

भक्त माल में कहा है —

नाम औ भगवान् है एक ही समान ।
तथापि है शीघ्र नाम करत फलदान।।

भगवत् संदर्भ में कहा है कि-

"यत्तत्वं श्रीविग्रहरूपेण चक्षुरादावुदयते, तदेव नामरूपेण वागावादिति स्थितं, तस्मान्नामनामिनोः स्वरूपाभेदेन तत्साक्षात्कारे तत्साक्षात्कार एव।"

अर्थ- जो भगवत्-तत्त्व रूप धारण करके दृष्टिपथ में आविर्भूत होता है, वही पहले ही नाम रूप में वाणी में आ बसता है। नाम और नामी स्वरूप से अभेद हैं। नाम का स्वरूप स्पष्ट उदय होने पर चिन्मयरूप भगवान नाम के स्वरूप के साथ एकता करके प्रकट होते हैं।

भक्ति संदर्भ में कहा है -

'भगवन्नामात्मका एव मंत्राः । तत्र केवलानि श्री भगवन्नामान्यपि निरपेक्षाण्येव परमपुरुषार्थफल-पर्यन्त समर्थानि। नामतो मंत्रेषु अधिकारसामर्थ्यमलब्धम्।'

भगवान के नाम मात्र सब मन्त्र हैं। केवल भगवान के नाम स्मरण के प्रभाव से भगवद्दर्शन स्वरूप परम पुरूषार्थ की प्राप्ति होती है। नाम की अपेक्षा मन्त्र अधिक फल प्रदान करने का सामर्थ्य नहीं रखते। मुण्डमाल तन्त्र में कहा है-

दुर्गा दुर्गेति दुर्गा नाम परं मतम्।
यो जपेत् सततं चण्डि जीवनन्मुक्तः स मानवः।।

जो व्यक्ति दुर्गा, इस नाम रूपी श्रेष्ठ मन्त्र का जप करता है,

हे चण्डि ! वह जीवन मुक्त है। रुद्रयामल में दुर्गा नाम माहात्म्य में कहा है- **'नामेदं परमो हेतुर्मुक्तये भवसंगिनाम्'**। दुर्गा-नाम संसारी जीवों को मोक्ष देने वाला श्रेष्ठ उपाय है। कुलार्णव-तन्त्र में भी श्री भगवान शिवजी देवी से कहते हैं-

जपयज्ञात् परो यज्ञो नापरोऽस्तीह कश्चन।
तस्माज्जपेन धर्मार्थकाममोक्षांश्च साधयेत्।।

इस संसार में जप-यज्ञ की अपेक्षा श्रेष्ठ यज्ञ दूसरा कोई नहीं है। एक जप द्वारा धर्म , अर्थ, काम, मोक्ष चारों की सिद्धि होती है। योगिनी तन्त्र में भी कहा है-

जपेन देवता नित्यं स्तूयमाना प्रसीदति।
प्रसन्ना विपुलान् कामान् दद्यान्मुक्तिञ्च शाश्वतीम्।।

अर्थ- जप द्वारा नित्य स्तुति करने से देवता प्रसन्न होते हैं और प्रसन्न होकर विविध कामनाओं को पूर्ण करते हैं और शाश्वती मुक्ति प्रदान करते हैं।

ऐसा ही शिव-धर्म तन्त्र संसार में लिखा है-

जपनिष्ठो द्विजः श्रेष्ठोऽखिल-यज्ञफलं लभेत्।
सर्वेषामेव यज्ञानां जायतेऽसौ महाफलम्।।

अर्थ- जपनिष्ठ ब्राह्मण को सब यज्ञों का फल प्राप्त होता है, सब यज्ञों में इसलिये जप यज्ञ ही महाफलप्रद है। वामन पुराण में लिखा है-

नारायणो नाम नरो नराणाम्, प्रसिद्धचौरः कथितः पृथिव्याम्।
अनेकजन्मार्जित पापसंचयं, हरत्यशेषं श्रुतमात्र एव।।

अर्थात् पृथ्वी में नारायण नाम का नरों में नर प्रसिद्ध चोर है, क्योंकि उसका यह मधुर नाम कान में पड़ने मात्र से मनुष्य के अनेक

जन्मों के संचित पापों को हर लेता है अर्थात् भस्म कर देता है मत्स्य पुराण में भी कहा है-

परदाररतो वापि परापकृति-कारकः।
स शुद्धौ मुक्तिमाप्नोति हरेर्नामानुकीर्तनात्।।

अर्थात् पर-स्त्री-गामी अथवा दूसरों का अपकार करने वाला पापी भी हरि नाम के कीर्तन से शुद्ध होकर मुक्ति पाता है। कलिसन्तरणोपनिषद् में कहा है-

भगवतः आदिपुरुषस्य नारायणस्य नामोच्चारण मात्रेण निर्धूतं कलिर्भवति।

अर्थात् श्री भगवान आदि पुरुष नारायण के नामोच्चारण मात्र से कलि का प्रभाव नष्ट हो जाता है। वैशम्पायन संहिता में कहा है।

सर्वधर्म-बहिर्भूतः सर्वपापरतस्तथा।
मुच्यते नात्रसंदेहो विष्णोर्नामानुकीर्तनात्।।

अर्थात् सब धर्म परित्यागी और सब पापों का करनेवाला मनुष्य यदि श्री हरि के नाम का कीर्तन करेगा, तो उसके सब पाप दूर हो जायेंगे, इसमें संदेह नहीं। वत्स ! कलियुग के मोहांध जीवों के लिये एक मात्र हरिनाम ही सब पापनाशक है।

नराणां विषयांधानां ममताकुलचेतसाम्।
एक एव हरेर्नाम सर्वपापविनाशनम्।।

बृहन्नारदीय पुराण

अर्थात् विषयासक्त और ममताकुल - चित्त वालों के सब पाप एक हरि नाम द्वारा नष्ट हो जाते हैं। वत्स ! हरिनाम की शक्ति सब प्रकार के पापों का हरण करने में इतनी समर्थ है कि मनुष्य सारे जीवन में उतना पाप नहीं कर सकता। नाम के बराबर श्रेष्ठ

दूसरा प्रायश्चित नहीं है। पापों के नाश करने के लिये मनुष्य चाहे जितने भी प्रायश्चित करे, जब तक भक्ति भाव से नाम का आश्रय लेकर नाम जप और कीर्तन नहीं करता, तब तक उसका प्रायश्चित पूर्ण नहीं होता। पद्मपुराण में लिखा है-

कीर्तनादेव कृष्णस्य विष्णोरमिततेजसः।
दुरितानि विलीयन्ते तमांसीव दिनोदये।।
नान्यत् पश्यामि जन्तूनां विहाय हरिकीर्तनम्।
सर्वपाप-प्रशमनं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तम।।

अर्थात् अपरिमेय प्रभावशाली भगवान कृष्ण अथवा विष्णु के नाम कीर्तन द्वारा मनुष्य के सब पाप दूर होते हैं, जैसे सूर्य के उदय होने पर अन्धकार। हे द्विजश्रेष्ठ! मैं मनुष्यों के सब प्रकार के पापों के नाश के निमित्त हरि कीर्तन के सिवाय दूसरा प्रायश्चित नहीं देखता। वत्स! कामिनी कांचन में आसक्त, नाना विधि पाप कर्मों में रत और अनेक प्रकार के भोगों में आसक्त कलि के दुर्बल जीव न तो वेदान्त के ज्ञान के अधिकारी हैं, न अष्टांगयोग के उपयुक्त। तथापि कलियुग के जीवों का भाग्य अच्छा है, क्योंकि सत्ययुग में कठोर तप द्वारा, त्रेता में गम्भीर ज्ञान विचार द्वारा और द्वापर में कष्ट साध्य यज्ञव्रतादि के अनुष्ठानों द्वारा जो श्रेष्ठ पद मिलता था, कलि के जीव एकमात्र भगवन्नाम द्वारा ही उस परम पद को प्राप्त होकर कृतार्थ हो जाते हैं।

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमित्यूचुर्नामैकन्तु कलौ युगे।।

पराशर

विष्णु पुराण में कहा है-

ध्यायन्कृते यजन्यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्।।

अर्थात् सत्ययुग में ध्यान-धारणा-समाधि द्वारा, त्रेता में यज्ञ कर्म द्वारा और द्वापर में पूजा अर्चनादि द्वारा जिस पद की प्राप्ति होती है, कलि में केवल केशव के नाम का संकीर्तन करने से ही उस पद की प्राप्ति होती है। श्रीमद्भागवत में कहा है —

कलेर्दोषनिधेराजन्नस्ति ह्येको महागुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्।।

हे राजन्! कलि के बहुत दोष होने पर भी एक बड़ा गुण है कि एक मात्र कृष्ण नाम के कीर्तन से ही बंधनमुक्त होकर कलियुग से मनुष्य परम पद को पा जाते हैं। हे वत्स! वृहन्नारदीय पुराण में कहा है-

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा।।

अर्थात्- **हरिनाम हरिनाम हरिनाम सार।**
कलियुगे ईहा वई गति नाँही आर।।

हिन्दी अनुवाद :-

हरिनाम हरिनाम हरिनाम ही सार है।
कलि माँहि नाम बिन और गति नाहिं है।।

ब्रह्माण्ड पुराण में कहा है

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
ये रटन्ति हि नामेदं, सर्वपापं तरन्ति ते।।

अर्थात् हरे राम हरे राम की रटन लगाने वाले सब पापों से मुक्त हो जाते हैं।

पाण्डव गीता में अत्रि मुनि कहते हैं —

गोविन्देति सदा स्नानं गोविन्देति सदा जपः।
गोविन्देति सदा ध्यानं सदा गोविंद कीर्तनम्।।

अर्थात् गोविन्द नाम का ही सदा जप, सदा ध्यान, सदा कीर्तन और गोविन्द नाम से ही सदा स्नान करना चाहिए। इस प्रकार स्नान द्वारा देह का मल धो डालो और गोविन्द-नाम के जप-कीर्तनादि द्वारा मन को शुद्ध और पवित्र कर लो। वत्स! जिस आनंद की प्राप्ति होने पर दुःखों का उदय फिर कभी नहीं होता, चिरकालीन दुःखों का अन्त हो जाता है, एवं जीव जन्म-मृत्यु-रहित हो जाता है, उस आनंद स्वरूप श्री भगवान को पाने के लिये इस कलियुग में एकमात्र हरिनाम ही श्रेष्ठ साधन है और इस साधन के सिवाय दूसरा कोई सहज उपाय नहीं। हे वत्स! इसलिए निश्चयार्थ 'हरेर्नाम' एक बार कहने की जगह तीन बार कहा है और 'नास्त्येव' भी तीन बार कहा है। वत्स! 'हरि' कहने से योगीजनों के ध्येय स्वरूप आत्मतत्त्व को ही समझना चाहिये। "हरित योगिनां चेतांसि, इति हरिः" जो योगियों के चित्त का हरण करता है, उसे हरि कहते हैं। आनंदस्वरूप आत्मा ही तो योगियों के मन का हरण करती है। वे ही योगी तो "चित्तवृत्तिनिरोधरूप" योग अथवा समाधि द्वारा आत्मस्थित होकर आनन्द मग्न रहते हैं।

बृहन्नारदीय और अग्निपुराण में भी कहा है :—

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः।।
विज्ञाप्य भगवत्तत्त्वं चिद्घनान्दविग्रहम्।
हरत्यविद्यां तत्कार्यमतो हरिरिति स्मृतः।।

अर्थात् जैसे अनिच्छा पूर्वक अथवा अज्ञान में भी छू जाने पर अग्नि जला देती है, वैसे ही दुष्ट चित्त और मलिन पापमय मन

से भी स्मरण करने पर 'श्री हरि' स्मरण करनेवाले के पाप नष्ट हो जाते हैं। यह हरिनाम चिद्घनानंद-विग्रहरूप भगवत्तत्व को प्रकाशित करके अविद्या और उसके कार्य को नष्ट कर देता है इसलिये भगवान को हरि कहते हैं। वत्स ! राम और कृष्ण इ दोनों नामों का अर्थ भी योगियों का ध्येय आत्मा है। राम शब्द क अर्थ है 'रमन्ते योगिनी यस्मिन् इति रामः' अर्थात् जिसमें योगी ज रमण करते हैं, उसको ही राम कहते हैं।

अथवा-

रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानंदे चिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ परब्रह्माभिधीयते।।

जिस अनन्त नित्यानंद स्वरूप चिदात्मा परब्रह्म में योगिज रमण करते हैं, उसे राम कहते हैं। कृष्ण शब्द का अर्थ 'कर्षि योगिनां मनांसीति कृष्णः' जो योगियों के मन को आकर्षित करत है, उसको कृष्ण कहते हैं।

अथवा -

कृषिर्भूवाचकः शब्दो नश्च निवृत्तिवाचकः।
तयौरैक्यं परब्रह्म- कृष्णेत्यभिधीयते।।

अर्थात् कृषि भू वाचक अर्थात् सत्तावाचक और न निवृ वाचक है। इन दोनों की एकता को ही परब्रह्म-कृष्ण कहा जात है। वत्स! मनुष्य की सब वासनाओं की निवृत्ति कैसे हो, जब तव आत्यन्तिक दुख का नाश और परमानन्द की प्राप्ति नहीं होती इसलिए निवृत्ति और आनंद एक ही है। वह आनन्द ही सत्तावाचव अर्थात् नित्य है, वही श्री कृष्ण नित्यानन्दस्वरूप ब्रह्म है। ब्रह्म संहित में कहा है-

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानंद-विग्रहः।
अनादिरादि-गोविन्दः सर्वकारणकारणम्।।

अर्थात् अनादि सच्चिदानन्दविग्रह श्री कृष्ण परम ईश्वर-स्वरूप ब्रह्म है, वे लीला करने के लिये सर्वप्रथम पुरुषाकार से प्रकट हुए, उन्हें ही आदि कहा है। वे ही गोविन्द, वे ही पृथ्वी के रक्षक और सब कारणों के कारण हैं।

विशिष्टाद्वैतवादी आचार्य श्री रामानुज कहते हैं :-

वासुदेवः परब्रह्म कल्याणगुण-संयुतः।
भुवनानामुपादानं कर्ता जीवनियामकः।।

अर्थात् वासुदेव श्रीकृष्ण ही परब्रह्म के स्वरूप, कल्याणादि गुणों से युक्त, जगत् के उपादान कारण और जीवों के नियामक हैं। गौतमी तन्त्र में लिखा है :-

कृषि शब्दश्च सत्तार्थो नश्चानन्दस्वरूपकः।
सुखरूपो भवेदात्मा भवानन्दमयस्ततः।।

अर्थात कृषि शब्द सत्तार्थ वाचक और नकार आनन्दस्वरूप और सुखस्वरूप आत्मा है। इसलिए कृष्ण शब्द द्वारा ज्ञानानंदमय आत्मा ही समझना चाहिए।

श्री कृष्णोपनिषद् में दिया है कि 'कृष्णो ब्रह्मैव शाश्वतम्' श्री कृष्ण शाश्वत ब्रह्म ही हैं। हे वत्स ! राम, कृष्ण, हरि प्रभृति नामों के सदृश शिव, दुर्गा, काली प्रभृति नाम भी कलियुग के मनुष्यों के लिये महामंगलप्रद हैं। वृहन्नारदीय पुराण में कहा है-

शिवपूजापरा ये तु शिवनामपरायणाः।
त एव शिवतुल्याश्च घोरे कलियुगे द्विजाः।।

अर्थात् द्विजगण घोर कलियुग में शिवपूजन और शिवनामपरायण

होकर शिवतुल्य हो जाते हैं। वृहन्नारदीय पुराण में अन्यत्र और भी कहा है :-

शिवशङ्कररुद्रेशनीलकण्ठत्रिलोचनः ।
इतीरयन्ति ये नित्यं नहि तान् बाधते कलिः।।

अर्थात् जो लोग सदा शिवशंकर प्रभृति नामों का कीर्तन भजन करते हैं, कलि का प्रभाव उनका स्पर्श नहीं कर सकता। ब्रह्मवैवर्त पुराण में पाया जाता है :-

शिवेति च शिवं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते।
कोटिजन्मार्जितं पापं तस्य नश्यति निश्चितम्।।

अर्थात जिनके मुख से 'शिव' यह शिवस्वरूप मंगलमय नाम निकलता है, उनके कोटि-कोटि जन्मों के संचित पाप निश्चय ही नष्ट हो जाते हैं। शिवपुराण की धर्म संहिता में दिया है :-

उक्तं शिवेति यैर्नाम तथा हरहरेति च।
न तेषां नरकाद्भीतिर्यमाद्धि मुनिसत्तम।।

हे मुनिसत्तम ! जो लोग 'शिव' यह नाम और 'हर हर' इस नाम का कीर्तन करते हैं, उनको नरक का भय अथवा यम का भय नहीं होता।

वत्स! श्री कृष्णचैतन्य सदा हरि नाम में और कृष्ण नाम में मस्त रहते थे, उन्होंने भी शिव-नाम-माहात्म्य में यह कहा है :-

बंगला- सकृत जे जन बोले शिव हेन नाम।
से हो कोनो प्रसंगे ना जाने तत्व तान।।१।।
सेई क्षणे सर्व पाप हई ते शुद्ध हय।
वेद शास्त्रे भागवते एही तत्व कय।।२।।

हेन शिव नाम सुनि जार दुःख हय।
सेई जन अमंगल समुद्र भासय।।३।।
श्रीवदने कृष्णाचन्द्र बोलेन आपनि।
शिव ये ना पूजे से वा मोरे पूजे केने।।४।।

चैतन्य-भागवते अन्तखंडे श्री चैतन्योक्ति :—

'शिव राम गोविन्द' बलिया गौर राय।
हाते तालि दिया नृत्य करेन सदाय।।५।।

हिन्दी भावार्थ

जो मनुष्य शिव-नाम का एक बार भी उच्चारण करता है, चाहे वह उसके तत्त्व को न जानता हो तो भी वह उसी क्षण सब पापों से शुद्ध हो जाता है। वेद, शास्त्र और भागवत सब यही कहते हैं। जिसे शिव-नाम सुनकर दुःख होता है, वह अमंगल-सागर में डूब जाता है। श्रीकृष्ण भगवान् स्वयं श्रीमुख से कहते हैं कि जो शिव की पूजा नहीं करता, वह मेरी पूजा कैसे करेगा?श्रीगौरांग महाप्रभु कहते हैं कि हाथों से ताल देकर नृत्य के साथ सदाशिव, राम गोविन्दादि नामों का कीर्तन करो।

स्कन्दोपनिषत् में हैः-

शिवाय विष्णुरूपाय शिवरूपाय विष्णवे।
शिवस्य हृदये विष्णुर्विष्णोश्च हृदये शिवः।।
यथा शिवमयो विष्णुरेवं विष्णुमयः शिवः।

अर्थात् विष्णुस्वरूप शिव को और शिवस्वरूप विष्णु को नमस्कार है। शिव का हृदय विष्णु और विष्णु का हृदय शिव है। जैसे शिवस्वरूप विष्णु हैं, वैसे ही विष्णुस्वरूप शिव हैं।

श्रीमद्देवीभागवत में श्री भगवान विष्णु लक्ष्मीजी से कहते हैं-

शिवस्याहं प्रियः प्राणः शंकरं त्रिपुरान्तकम्।
उभयोरन्तरं नास्ति मिथः संसक्तचेतसोः।।
नरकं यान्ति ते नूनं ये द्विषन्ति महेश्वरम्।
भक्ता मम विशालाक्षि! सत्यमेतद् ब्रवीम्यहम्।।

अर्थात् मैं शिव का प्राण-समान प्रिय हूँ और शंकर मुझे वैसे ही प्राण-समान प्रिय हैं, हमारे दोनों के चित्त दृढ़ भाव से परस्पर मिले हुए हैं, अतएव हमारे अन्दर किंचित् मात्र भी अन्तर नहीं। हे विशालाक्षि ! जो मेरा भक्त होकर शिव से द्वेष करता है, उसका निश्चय ही नरक गमन होता है, यह मैं तुमसे सत्य कहता हूँ।

सब नामों में एक ही अखण्ड तत्त्व

वत्स ! भगवद्भाव के लिये साम्प्रदायिकता के तुच्छ भावों को मन में स्थान देना उचित नहीं है। सबको यह जान लेना चाहिए कि एक शास्त्र में जिसको कृष्ण कहा है, अन्य शास्त्रों में उसी को शिव, उसी को राम, उसी को दुर्गा, उसी को काली या तारा अथवा त्रिपुरा कहा है। सब शास्त्र एक ही का प्रदर्शन कर रहे हैं।

येऽर्चयन्ति हरिं भक्त्या तेऽर्च्चयन्ति वृषध्वजम्।
ये रुद्रं नाभिजानन्ति ते न जानन्ति केशवम्।।
यथा शिवस्तथा दुर्गा या दुर्गा विष्णुरेव सः।
देवी-विष्णु-शिवादीनामेकत्वं परिचिन्तयेत्।।
भेदकृन्नरकं याति रौरवं नात्र संशयः।

अर्थात् हरि की भक्ति के साथ पूजनादि करने पर उससे ही शिव का पूजन भी हो जाता है। जो रुद्र को नहीं जानते वे केशव को भी नहीं जान सकते। शिव, दुर्गा, विष्णु प्रभृति में परस्पर कोई भेद नहीं। देवी, विष्णु, शिव, प्रभृति में एकत्व की भावना रखनी

चाहिए। यदि एकत्व की भावना से सिद्धि प्राप्त नहीं की जा सकती, तो शोक-मोह के पार कैसे उतरा जा सकता है।

"कः शोकः को मोहः एकत्वमनुपश्यः"। शिव, राम, दुर्गा, काली, कृष्ण में भेद देखनेवाले रौरव नरक में जाते हैं यह निःसंशय सत्य है।

श्रीमद्देवी भागवत में श्री कृष्ण का एक नाम गोपाल-सुन्दरी है। गोपाल-सुन्दरी ही तेजोमयी वरणीया गायत्री है, वही रघुनाथ, वही ब्रह्मा और वही शिव है।

भर्गं वरेण्यं विश्वेशं रघुनाथं जगद्गुरुम्।
गायत्री त्वं यद् ब्रह्मेति ब्रह्मविदो विदुस्ताम्।।

वत्स! नारायण हरि, कृष्ण, राम, विष्णु शिव, शंकर, दुर्गा, काली इत्यादि सब रूप और नाम के बीच एक अखण्ड चैतन्य सच्चिदानंद ब्रह्म अथवा परमात्मा वर्तमान है। कोई भी नाम समस्त प्रयोजनों की सिद्धि करने का सामर्थ्य रखता है, इसलिये सब नामों का मूलतः अभिन्न रूप से एक ही अर्थ है। हरिभक्ति विलास में पुलस्त्य ऋषि की उक्ति है कि-

सर्व्वार्थशक्ति-युक्तस्य देवदेवस्य चक्रिणः।
यथाभिरोचते नाम तत् सर्वार्थेषु कीर्त्तयेत्।।
सर्व्वार्थ-सिद्धिमाप्नोति नाम्नामेकार्थता यतः।
सर्व्वाण्येतानि नामानि परस्य ब्रह्मणो हरेः।।

अर्थ- समस्त वस्तु के आधार देवादिदेव विष्णु के जिस नाम में रुचि हो, उसी का कीर्तन सब कार्यों में करना चाहिए, क्योंकि सब नामों में एक ही तत्व आश्रयभूत है और क्योंकि ये सब नाम परब्रह्म हरि के ही हैं, इसलिये उसके किसी भी नाम के कीर्तन

द्वारा अभीष्ट की सिद्धि होती है। शिव महिम्नस्तव में कहा है-

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति।
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।।

अर्थात् तीनों वेद , सांख्य , योग , तन्त्र और वैष्णवशास्त्र में कथित भिन्न-भिन्न मार्गों में से अपने अपने संस्कारानुसार रुचिभेद से श्रेष्ठ और हितकर जानकर चाहे किसी भी सरल अथवा कठिन मार्ग के साधन में लग जाय। हे प्रभो, तो भी, जल जैसे भिन्न भिन्न सीधे अथवा टेढ़े रास्तों से जाकर अन्त में समुद्र में ही पहुँचता है, वैसे ही एक मात्र तू ही सब मनुष्यों की एक गति है। वत्स! अखण्ड चैतन्यस्वरूप तत्व को ही भक्तजन भगवान, योगी, परमात्मा और ज्ञानी सच्चिदानन्दब्रह्म कहते हैं।

वदन्ति तत्तत्त्व-विदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।।

श्रीमद्भागवत।

वत्स! सब नाम और मन्त्रों में सगुण और निर्गुण भाव निहित है। ब्रह्म एक अद्वितीय है परन्तु अपनी इच्छा से अपनी माया के वश उसके नाना नाम और रूप प्रकट किये हैं, जैसे गंगा एक है, किन्तु उसमें उतरने के लिए घाट बहुत से हैं। जिसको जो घाट अच्छा लगता है, वह उस पर जाकर गंगा में उतर कर जलपान करके प्यास की निवृत्ति कर लेता है और अपने प्राणों को शीतल करता है। जलपान करना ही तो उद्देश्य है, घाट को पसन्द करना अपने उतरने की सुविधा के लिये है, इसके अतिरिक्त तो दूसरा उद्देश्य नहीं। अपनी पसन्द के अनुसार जिसको जिस घाट की

इच्छा होती है, वहाँ जाकर गंगा में उतर कर जलपान करता है। जलपान करने से तृष्णा निवृत्ति सबको बराबर ही होती है, उसी तरह नित्य-आनन्द-स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति ही मनुष्य जीवन का उद्देश्य है, तब ब्रह्मस्वरूप गंगा में उतरने के लिए और आनन्द-प्राप्त करने के लिए ब्रह्मरूपी गंगा के अनन्त नाम और रूप विशिष्ट घाटों में से जिसको जो पसन्द आवे, वह उसी घाट को अर्थात् नामरूप के आश्रय को ग्रहण करके ब्रह्मरूपी गंगा में उतरे अर्थात् ब्रह्मभाव में डूब जाय, उसमें तन्मय हो जाय और परमानन्द लाभ करे। इस ब्रह्मानन्द, नित्यानन्द की प्राप्ति से दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति सबको एक समान होगी, किसी को फिर दुःख नहीं व्यापेगा और कोई भी दुःख फिर उदय नहीं होगा। मनुष्य की अनादिकाल की प्यास, जन्म-जन्मातर की तृष्णा केवल इस एक ब्रह्मानन्द अथवा नित्यानन्द की प्राप्ति के द्वारा मिटेगी, अन्य किसी के द्वारा नहीं मिट सकती।

वत्स! तुम उस सच्चिदानन्दस्वरूप के अनन्त नामों में से कोई भी नाम लेकर उसको पुकारते क्यों नहीं, अथवा उसके नाम का कीर्तन क्यों नहीं करते? नाम जप या कीर्तन के समय जिसका ध्यान करते हो, तब तुम इस देह-मन्दिर में अपने ही चैतन्यरूपी ठाकुरजी को पुकारते हो अर्थात् तुम जिसको पुकारते हो वह सच्चिदानन्द स्वरूप तुम्हारे इस देह मन्दिर में ही विद्यमान है; वही तुम्हारी अहंबुद्धि का विषय चैतन्यस्वरूप आत्मा है। वह वाणी और मन के अगोचर होते हुए भी भावग्राही, प्राणों का देवता भावुकों के भाव से आकर्षित होकर दर्शन प्रदान करके साधक को कृतार्थ करता है-यह ध्रुव सत्य है।

भक्त रामप्रसाद ने गाया है- "सेये भावेर विषय, भाव व्यतीत अभावे कि धरते पारे?" अर्थात् वह जो भाव का विषय है, भाव शून्य अभाव में क्या पाया जा सकता है?

अहा! वह तो बहुत दूर नहीं, अति निकट से भी निकट है, वह इतना निकट है कि तुम्हारा देह, मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ भी नहीं हैं। तुम किसकी सत्ता से सत्तावान् होकर, किसके अस्तित्व से अस्तित्ववाले होकर, कहने में आनन्दित होते हो कि "मैं हूँ।" इस विषय पर एक बार ध्यानपूर्वक विचार करो कि वह क्या है? तुम्हारे विचार करने के समय वह कहाँ है? तुम जो इस दृश्य-प्रपंच के चिन्तन में मग्न हो, तुम जो इस जगत् के विभिन्न नामरूपों में फँस रहे हो, उसी नामरूप के पीछे वह छिपा हुआ, उस नाम-रूप को प्रकाशित कर रहा है, क्या तुमने उसका ध्यान किया? क्या उसको देखने की चेष्टा की?

तुम पुत्र का सुन्दर मुख देखकर, पत्नी के सुन्दर बदन का अवलोकन कर, इस बाग के सुन्दर फूलों को देखकर आनन्द में अपने आपको भूल जाते हो। किन्तु हाय! तुम्हारे निकट पुत्र, पत्नी और फूल के आकार में कौन उपस्थित है? इस सौन्दर्य का सृष्टि-कर्ता कौन है? इन नाम रूपों में कौन है? किससे वह सौन्दर्य अनुभव के उपयुक्त हुआ है? इन सब नामरूपों में वही प्रकाशित है, यह तुमने नहीं सोचा, नहीं देखा। तुम तो केवल स्त्री, पुत्र, परिवारजनों की दैहिक आवश्यकता को पूरा करने की चिन्ता में दिन-रात व्यग्र रहते हो, तुमको अवसर कहाँ? तोते पक्षी की तरह कितनी बार पुस्तकों की विद्या पढ़कर, बड़े-बड़े दार्शनिकों की कुछ बातें कंठस्थ करके, 'ब्रह्म सत्यं जगत्मिथ्या' इत्यादि कहकर, जगत् को उड़ा देने की चेष्टा करते हो, परन्तु दूसरे क्षण में फिर उसी मिथ्या जगत् और भ्रान्ति का आश्रय लेकर पागल हो जाते हो। जिसके आश्रय पर यह सुन्दर जगत प्रतिभासित हो रहा है, जिसके क्षणिक वहि:सौन्दर्य से मुग्ध होकर तुम उस परम सुन्दर को भूल गये हो, वह है तुम्हारा ही 'मैं' बुद्धि का आश्रयभूत 'सच्चिदानन्द ब्रह्म'। वही

तुम्हारी आत्मा, वही तुम्हारा 'मैं' है, किन्तु तो भी तुम उसे देख नहीं पाते, अनुभव नहीं करते।

जैसे जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ने पर भी जल की मलिनता और चंचलता के कारण वह दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी तरह तुम्हारा मन ऐहिक और पारलौकिक भोगवासनाओं में आसक्त, पापों से कलुषित और पाप-चिन्ता, अनात्म-चिन्ता, विषय-चिन्ता से चंचल रहता है, इसीलिये वह परम सुन्दर परमानन्द स्वरूप परमात्मा तुम्हारे इस देह-मन्दिर में रहता हुआ भी तुमको दर्शन नहीं देता, तुम उसका अनुभव नहीं कर पाते।

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीभगवान् कहते हैं-

'विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः' अर्थात् दृष्टादृष्ट विषयभोगों में जिनका चित्त आकृष्ट है, ऐसे मूढ़जन अन्तस्थ आत्मा को नहीं देख सकते, किन्तु ज्ञान-नेत्र-युक्त महात्मा उसको अर्थात् अहम् बुद्धि के विषय चैतन्यरूपी आत्मा को, सच्चिदानन्द ब्रह्म को इसी देह में अनुभव करते रहते हैं।

वत्स! आत्मदर्शन अथवा श्री भगवद्दर्शन करने में प्रतिबन्धक जो चित्त की मलिनता है, उसे दूर करने के लिये, झाड़ बुहार करने के निमित्त श्री गुरुप्रदत्त उपासना रूपी यह जप साधन है। जब तक प्रतिबंधक दूर नहीं होते, तब तक अभिमान छोड़कर भक्तिभाव से सदा उसका नाम जपते रहो।

जप - विधि

वत्स! वाचिक और मानसिक भेद से जप दो प्रकार का
उनमें मानसिक जप अर्थात् मन ही में जप करना, अथवा नाम स्मर
करना श्रेष्ठ है। याज्ञवल्क्य-स्मृति में कहा है-

जपश्च द्विविधः प्रोक्तो वाचिको मानसस्तथा।
वाचिकोपांशुरुच्चैश्च द्विविधः परिकीर्त्तितः।।

अर्थ- वाचिक और मानसिक भेद से जप दो प्रकार का
उसमें फिर उपांशु और उच्च भेद से वाचिक जप भी दो प्रका
का है-

उच्चैर्जपादुपांशुश्च सहस्त्रगुण उच्यते।
मानसश्च तथोपांशोः सहस्त्रगुण उच्यते।।

अर्थ- ऊँचे स्वर से जप करने की अपेक्षा उपांशु जप सहस्
गुण अधिक फल देने वाला होता है और उपांशु जप की अपेक्ष
मानस जप सहस्त्रगुण श्रेष्ठ है।

वत्स! मन्त्रार्थ स्मरण-पूर्वक मन में जप करने को मानस ज
कहते हैं और अपने उपास्य-देव के ऊपर मन लगाकर जिह्वा औ
होंठ कुछ हिलते हुए केवल स्वयं ही शब्द सुन सकें, इस प्रका
जो मंत्र या नाम का जप किया जाता है, उसको उपांशु जप कहत
हैं। जो मंत्र-जप अथवा नाम-स्मरण दूसरों को सुन पड़े, उसक
उच्च स्वर का जप कहते हैं। विशुद्धेश्वर तन्त्र में दिया है कि-

निजकर्णागोचरोऽयं स जपो मानसः स्मृतः।
उपांशु र्निजकर्णस्य गोचरः परिकीर्तितः।।
मंत्रमुच्चारयेद्वाचा स जपो वाचिकः स्मृतः।

उच्चैर्जपाद्विशिष्टः स्यादुपांशुर्दशभिर्गुणैः।।
जिह्वाजपः शतगुणः सहस्त्रो मानसः स्मृतः।।

अर्थ- अपने कान भी न सुन सकें, ऐसा जप मानस कहलाता
और अपने कान ही सुन सकें अन्य के श्रवण गोचर न हो, ऐसे
प को उपांशु कहते हैं। वाणी द्वारा ऊँचे स्वर से जो मंत्रोच्चारण
ता है, वह वाचिक जप कहलाता है। ऊँचे स्वर से जप करने
ी अपेक्षा उपांशु जप दसगुना अच्छा है, जिह्वा से किया हुआ जप
ो गुना और मानसिक जप सहस्त्र गुना श्रेष्ठ है।

वत्स! केवल जिह्वा द्वारा जो जप किया जाता है, उसको जिह्वा
ा जप कहा है। इस जप में केवल जिह्वा ही हिलती है किन्तु
ोंठ नहीं हिलने चाहिये अर्थात होंठों को बंद रखना चाहिये।

वत्स ! तन्त्रान्तर में लिखा है-

उच्चैर्जपोऽधमः प्रोक्त उपांशुर्मध्यमः स्मृतः।
उत्तमो मानसो देवि ! त्रिविधः कथितो जपः।।

अर्थ- ऊँचे स्वर का जप अधम है, उपांशु जप मध्यम और
ानस जप उत्तम माना गया है। हे देवि! इस तरह जप तीन प्रकार
े होते हैं। वत्स! इन कहे हुए जपों से भिन्न एक 'सुषुम्णाजप'
ी जप का एक प्रकार है। वह श्रीगुरु मुख से ही जाना जाता है,
सके अनुसार जप करने पर उसके द्वारा शीघ्र मन के ऊपर प्रभुत्व
ाप्त होता है अथवा बहुत जल्दी मन की चंचलता दूर होकर मन
ें स्थिरता आती है।

ौतमीय तन्त्र में दिया है :-

सुषुम्णा-ध्वन्युच्चारिताः प्रभुत्वं प्राप्नुवन्ति ते।
मंत्राक्षराणि चिच्छक्तौ प्रोतानि च विभावयेत्।।

अर्थ- सुषुम्णा ध्वनि में अर्थात् सुषुम्णा मार्ग में उच्चारि मन्त्र का जप करने से मन पर प्रभुत्व प्राप्त होता है। मन्त्राक्षरों चैतन्यरूपिणी शक्ति में अर्थात् कुण्डलिनी-शक्ति में ग्रथित ध्या करना चाहिये-यह गुरूपदेशगम्य है।

जप के प्रारम्भिक कर्तव्यों के सम्बन्ध में श्री शिवजी महारा तन्त्रसार में कहते हैं कि —

मनः संहृत्य विषयान्मन्त्रार्थगतमानसः।
नद्रुतं न विलम्बाच्च जपेन्मौक्तिकहारवत्।।

अर्थ- विषयों से मन हटाकर मन्त्र के अर्थ में अर्थात् इ देवता के रूपादि के ध्यान में मन लगाकर मन्त्र का जप कर चाहिए। मोतियों की माला में जैसे एक के पीछे दूसरी मणिका आ है, उसी तरह एक बार स्पष्ट उच्चारण करने के पश्चात् दूसरी बा मन्त्रोच्चारण करना चाहिये, न जल्दी न विलम्ब से ध्यान के सहि जप करने से शीघ्र सिद्धि होती है। 'फेत्कारिणी तन्त्र' में दिया है

'जपध्यान-समायुक्तः शीघ्रं सिद्ध्यति मन्त्रवित्।'

एकमात्र जप के द्वारा ही सिद्धि होती है, यह सब शास्त्रों व मत है, किन्तु विधिपूर्वक मन्त्र या नाम का उपदेश श्रीगुरु से ग्रह करके 'नाम' के दस प्रकार के अपराधों का त्याग करते हुए ज करना चाहिये। दस अपराध ये हैं-

(१) परनिन्दा (२) हरिहर और देव देवी में भेद दृष्टि रखक उनकी निन्दा चर्चा आदि (३) श्रुति (वेद), स्मृति (धर्मशास्त्र), तन्त्र पुराण और दर्शन शास्त्रों में अविश्वास (४) श्रीगुरु और उनके वचन में अविश्वास (५) नाम के माहात्म्य में अविश्वास (६) नाम ले समय नाम के भरोसे निषिद्ध कार्य करना (७) नाम के भरोसे नित

कर्म सन्ध्या वन्दनादि का त्याग करना (८) वर्णाश्रम का परित्याग करना अर्थात् पालन न करना (९) अपने नाम साधन के साथ दूसरों के साधन की तुलना करना (१०) शास्त्र निषिद्ध आहार करना।

भक्ति का स्वरूप

श्री भगवान में जिन लोगों की भक्ति है, उन्हीं को नाम में रुचि होती है। भक्ति, वैराग्य और ज्ञान की जननी है। श्रीमद्भागवत् में कहा है-

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानञ्च यदहैतुकम्।।

अर्थात्- वासुदेव भगवान में भक्ति-योग के प्रयोजित होने पर शीघ्र ही वैराग्य और ज्ञान का उदय होता है।

भक्ति क्या है, यह सरल भाषा में कहें तो कहना पड़ेगा कि भगवान की ओर प्राणों का तीव्र आकर्षण ही भक्ति है, अर्थात् श्रीभगवान की ओर दौड़ने वाले चित्त की वृत्ति- विशेष भक्ति - पदवाच्य है। अपनी इन्द्रियों की तृप्ति के लिये, वासनाओं की पूर्ति के लिये और भोगविलास की प्राप्ति के लिए जो इच्छा, चेष्टा अथवा, प्रयत्न होता है, वह 'काम ' कहलाता है और वह इच्छा, चेष्टा और प्रयत्न जब केवल अपने प्रियतम अभीष्टदेव श्रीभगवान की तृप्ति के लिये लगा दिये जाते हैं, तब वह 'काम' ही भक्ति में परिणत होता है। श्रीचैतन्य चरितामृत में सरल बंगला भाषा में यही बात इन शब्दों में कही गई है-

आत्मेन्द्रिय-प्रीति इच्छा तारे बलि काम।
कृष्णेन्द्रिय-प्रीति इच्छा धरे प्रेम नाम।।

अर्थात् अपनी इन्द्रियों की तृप्ति की इच्छा को काम कहते

हैं और कृष्ण को प्रसन्न करने की इच्छा का नाम प्रेम है।

स्नेह, प्रेम, श्रद्धा इत्यादि की वृत्तियाँ मनुष्य में स्वाभाविक ह हैं। पुत्र के प्रति स्नेह, पत्नी के प्रति प्रेम, माता-पिता गुरुजनों प्रति श्रद्धा और बन्धुओं के ऊपर स्नेह प्रकट करने में मनुष्य कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। मनुष्य की ये सब स्वाभाविक वृत्ति श्रीभगवान में समर्पण होने पर ही उसकी भक्तों में गणना हो सक है। भक्त चूड़ामणि प्रह्लाद इसी अभिप्राय से कहते हैं।

या प्रीतिरविवेकिनां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मामपसर्पतु।।

वि.

अर्थ- विषयासक्त अविवेकियों की इन्द्रियों के विषयों अपावनी प्रीति अर्थात् आसक्ति जैसी प्रबल रहती है, हे दीनाना तुम्हारा स्मरण करते हुए मेरे हृदय से वैसी ही प्रीति कभी लु न हो। विषय भोगों में आसक्त मनोवृत्ति श्री भगवान में समर्पण क देने पर वही विषय-मलिन मनोवृत्ति मनुष्य को श्री भगवान क अपना जन बनाकर भक्ति राज्य का अधिकारी बना देती है।

हे वत्स! विषय भोगों में आकर्षित होने की तुम्हारी जो प्रवृ है, वही आसक्ति कहलाती है। जो लोग घोर विषयी हैं वे विषय की बातों को छोड़ विषयों के ध्यान के बिना एक क्षण भी नह रह सकते। वैसे ही जो भगवान के भक्त हैं, वे भी श्रीभगवान क कथा, वार्ता और ध्यान के बिना एक मुहूर्त भी नहीं रहते। जिसक प्रति, जिस वस्तु के प्रति, जिसकी जैसी तीव्र चाह व जैसा आकर्षण होता है, उसके लिये उसकी भावना भी उतनी होती है। किसी वस के लिए जो आकर्षण होता है, वही उस वस्तु की चिन्ता में म को प्रेरित करता है।

वत्स! विचार कर देखो कि दूसरे घर से आई हुई देवी का यान करने के लिए, जिसको तुमने अपनी पत्नी के रूप में ग्रहण र लिया है, तुमको कौन प्रेरित करता है? जिन माता पिता से स संसार में आए हो, उनके लिए तो तुम्हारा इतना आकर्षण नहीं। ाँ, आकर्षण तो सब वस्तुओं में ही है, परन्तु स्त्री, पुत्र, कन्या में जतना आकर्षण है उतना आकर्षण और किसी में नहीं। अपनी स्त्री, त्र और पुत्रियों की जितनी चिन्ता है, उतनी चिन्ता और किसी ी नहीं। उनके सुख के लिये उनकी तृप्ति करने के लिये, उनके कहने पर भी तुम क्या नहीं करते, उनके मंगल के लिये कितनी चिन्ता करते हो ? वे लोग तो अपने लिये चिन्ता करने को तुमसे हीं कहते, तो भी उनके लिये चिन्ता किये बिना तुम नहीं रह सकते। उनकी चिन्ता नाना प्रकार से उत्पन्न होकर तुमको कितना दुःख देती हैं, तथापि उनकी चिन्ताओं में ही तुम मस्त रहते हो और उनकी चिन्ता ही तुमको आनन्द देती है। तुमको किसने उनकी यह चिन्ता करना बिना मांगे सिखाई है ? बताओ तो हे वत्स! उनके लिये यह जो तुम्हारी प्राणों की लगन, आसक्ति या मोह है, वही तुमको उनके लिये नाना प्रकार से चिन्ता-ग्रस्त किये रखती है, चिन्ताओं में डुबोए रखती है। हाय, क्षणिक सुख के लिए, क्षणिक आनन्द लाभ के लिये ही तो तुम पागल हो रहे हो, परन्तु नित्यानन्दस्वरूप भगवान के लिये पागल क्यों नहीं होते ?

हे वत्स! स्त्री, पुत्रादि और विषयों के प्रति जो तुम्हारी इतनी लगन है, उसका कारण उनके प्रति तुम्हारी गहरी ममता बुद्धि है। जहाँ यह 'मेरेपन' का बोध नहीं होता, वहाँ प्राणों की लगन भी नहीं रहती, आसक्ति नहीं रहती और कोई कर्तव्य-बुद्धि भी नहीं रहती।

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित् तत्तत्कामस्य चेष्टितम्।।

मनु २.४

अर्थात्- कामना रहित कार्य प्रायः नहीं देखा जाता, बि
कामना के किसी कर्म में भी प्रवृत्ति नहीं होती।

जन्म जन्मान्तरों के बड़े पुण्यप्रताप से, सुकृत कर्मों के परिण
स्वरूप श्रीगुरु कृपा से मनुष्य जब इतना समझने लगे कि हम
एकमात्र अपना श्रीभगवान है, हमारा कहने को वही एकमात्र
जब मनुष्य को श्री भगवान के प्रति ऐसा तीव्र आकर्षण बढ़े, उ
को भक्ति कहते हैं। गोपालपूर्वतापिनी उपनिषद् में क
है-'भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधि नैराश्येणामुस्मिन् मनः कल्पनमे
इहलोक की और परलोक की फल-कामना का परित्याग क
श्री भगवान् में चित्त समर्पण करने को भक्ति कहते हैं। "एत
च नैष्कर्म्यम्" इस प्रकार की भक्ति को ही नैष्कर्म्य - निष्क
भाव अर्थात् संन्यास कहा जाता है।

'भज्' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लगाने से 'भक्ति' शब्द बन
है, इसलिये भक्ति शब्द का अर्थ पूज्यों के प्रति अनुराग होता
महर्षि अंगिरा कहते हैं-

"सानुरागरूपा, स्नेहप्रेमश्रद्धातिरेकादलौकिकेष्वनुरागरूप

अर्थात् स्नेह, प्रेम और श्रद्धा स्वरूप त्रिविध लौकि
विषय-मलिन और नश्वर अनुराग से भिन्न परमेश्वर के प्रति
असाधारण और अलौकिक अनुराग है, उसको भक्ति कहते हैं। व्या
संहिताकार कहते हैं- 'ॐ पूजादिष्वनरागः' श्रीभगवान् के पूजा
में अनुराग होने को भक्ति कहते हैं। महर्षि शाण्डिल्य कहते है
'सापरानुरक्तिरीश्वरे' ईश्वर में परम अनुराग ही भक्ति है। मह
गर्गाचार्य कहते हैं "ॐ कथादिष्वनुरागः', अर्थात्- श्रीभगवान् व
कथाओं में जो अनुराग होता है, उसे भक्ति कहते हैं। भक्ति- द
के सूत्रकार महर्षि नारद कहते हैं "सात्वस्मिन् साकस्मैचित् पर

प्रेम रूपा" अर्थात् अनिर्वचनीय भगवान में परम प्रेम का होना भक्ति कहलाता है। गरुड़- पुराण के अध्याय २३१ में कहा गया है।

भज इत्यैष वै धातुः सेवायां परिकीर्तितः।
तस्मात् सेवा बुधैः प्रोक्ता भक्तिः साधनभूयसी।।

अर्थ- भज धातु का अर्थ सेवा के लिये किया जाता है इसलिए पण्डित लोग सब साधनों में श्री भगवान की सेवा को ही श्रेष्ठ भक्ति कहते हैं। नारद पंचरात्र में कहा है-

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेश-सेवनं भक्तिरुच्यते।।

अर्थ- सब प्रकार की भावना रूपी उपाधियों से मुक्त भगवत्परायणता के भाव से निर्मल मन द्वारा हृषीकेश भगवान की सेवा करना ही भक्ति है। श्रीपाद रूपगोस्वामी भक्तिरसामृत-सिंधु में कहते हैं-

अन्याभिलषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।

अर्थ- सब अभिलाषाओं को त्याग करके ज्ञान कर्म से विरहित होकर मनसा - वाचा - कर्मणा श्री भगवान् की सेवा करना उत्तम भक्ति है।

श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्ती ने लिखा है-

गुरूपदिष्टमंत्रवती भक्तिशास्त्रोक्तविधानानुसारिणी अन्याभिलषिताशून्याज्ञानकर्मादिरहिता।'

श्रोत्रादि इन्द्रियगण के अनिमित्त स्वाभाविकी, श्री भगवान में आनुकूल्यमयी वृत्ति ही उत्तम भक्ति है।

श्री कविराज गोस्वामी ने श्रीचैतन्य-चरितामृत में इसका अ
बंगला में किया है-

अन्यवांछा अन्य पूजा छाड़ि ज्ञान कर्म।
आनुकूल्ये सव्वेन्द्रिये कृष्णानुशीलन।।

हिन्दी- **अन्य वाञ्छा अन्य पूजा छाँड़ि ज्ञान कर्म।**
स्वानुकूल सब इन्द्रियन ते कृष्णानुशील।।

उत्कृष्ट भक्ति का प्रसंग कहते हुए भक्त-शिरोमणि म
महोपाध्याय विश्वेश्वर सरस्वती कह गये हैं-

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्‌रावाहिकतांधाता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते।।

अर्थ- श्री भगवान् के गुणानुवाद श्रवण करते-करते द्रवीभू
होकर चित्त जब सर्वेश्वर श्री भगवान् की ओर तैलधारावत् बह
लगे, तब चित्त का वह भाव उत्कृष्ट भक्ति कहलाता है।

भागवत् के ऋषि भक्ति का स्वरूप बताते हुए सच्चिदान
श्रीभगवान् के मुख द्वारा कहलाते हैं-

मद्‌गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ।।
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे।।

अर्थ- पतितोद्धारिणी जाह्नवी की पवित्र धारा जै
निरविच्छिन्न भाव से अपने लक्ष्य स्वरूप समुद्र में गिरक
आत्म-विसर्जन करती है, उसी तरह सब प्राणियों के हृदयों में स्थि
अन्तर्यामी 'अविभक्तं विभक्तेषु' 'सर्वभूतस्थितं माँ' अविभक्त रू

से सब भूतों में पृथक-पृथक स्थित मुझमें मेरे गुणों के श्रवण से उत्पन्न भक्तों के चित्त की जो निरविच्छिन्न धाराप्रवाह वृत्ति लीन होकर आत्म विसर्जन करती है, वही अहैतुकी, कारण-रहित निर्गुण भक्ति कही जाती है। यही सर्वोत्तम आदर्श-भक्ति का लक्षण है। भगवान् जगद्‌गुरु श्रीमच्छङ्कराचार्य कहते हैं-

स्वस्वरूपानु-संधानं भक्तिरित्यभिधीयते

अर्थात् अपने आत्म स्वरूप के अनुसन्धान को भक्ति कहते हैं। कुलार्णव-तन्त्र में कहा है-

वैराग्योपरतिर्यत्र प्रेम - निर्वाण-बृंहितम्।
वैभवञ्च सदा देवि सा भक्तिः परिगीयते।।

अर्थात् भक्ति के उदय के साथ-साथ प्रेम वैराग्य और उपरति उत्पन्न होकर निर्वाण अर्थात् मुक्तिरूप परम समृद्धि प्राप्त हो, उसको भक्ति कहते हैं। पीठमाला तंत्र में महादेव कहते हैं-

'सा भक्तिर्यामुक्ति करी' अर्थात् भक्ति के द्वारा ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान में स्थित होकर मुक्ति मिले, वही भक्ति है। श्रद्धा के तारतम्य के अनुसार भक्ति के अधिकारी तीन प्रकार के हैं।

बंगला श्री चैतन्य चरितामृत में कहा है-

शास्त्रयुक्ति सुनिपुण दृढ़ श्रद्धा जार।
उत्तम अधिकारी सेई तार ये संसार।।
शास्त्र युक्ति नाहि जाने दृढ़ श्रद्धावान।
मध्य अधिकारी सेई महा भाग्यवान।।
याहार कोमल श्रद्धा सेई कनिष्ठ जन।
क्रमे-क्रमे तिहो भक्त होइवे उत्तम।।

हिन्दी अनुवाद -

शास्त्रयुक्ति-सुनिपुण अति, दृढ़ श्रद्धायुत होइ।
उत्तम अधिकारी सोई भवसागर तर सोइ।।
शास्त्र युक्ति जाने नहीं पर दृढ़श्रद्धा-वान।
मध्यम अधिकारी सोई, वह महा भाग्यवान्।।
मृदु श्रद्धायुत पुरुष जो, सब भक्तों में हीन।
क्रमानुसार अधिकार में, भगत कहे ये तीन।।

अर्थ - 'श्रद्धावान मनुष्य ही उत्तम भक्ति का अधिकारी है, श्रद्धा की तारतम्यतानुसार अधिकारी का तारतम्य होता है, साधुसंग मे जिनको सकाम कर्माधिकारी के सदृश विषयों में अति आसक्ति नहीं और मोक्ष कामनावाले ज्ञानाधिकारी के सदृश ऐहिक और पारलौकिक सुख-भोगों से अतिशय वैराग्य नहीं, जो केवल कृष्ण भक्ति करने से ही सब कर्म न करने पर भी सब कर्म कर लिये ऐसे दृढ़ विश्वास से श्रवणकीर्तनादि में लगे रहकर भक्ति करते हैं, वे श्रद्धालु कहलाते हैं। जो शास्त्र और शास्त्रानुकूल युक्तियों में खूब निपुण हैं, अर्थात् भक्ति-विरुद्ध बलवती बाधा उपस्थित होने पर उसका खण्डन करके भक्ति की मर्यादा की रक्षा करने मे समर्थ हैं, तत्व-विचार, साधन विचार और पुरुषार्थ के विचार द्वारा दृढ़ श्रद्धा संपन्न हैं, वे ही उत्तम अधिकारी कहलाने योग्य हैं। जो शास्त्र-युक्तियों में निपुण पुरुष की तरह बलवती बाधा उपस्थित होने पर उसका खण्डन करके भक्ति की मर्यादा को स्थापित करने में असमर्थ है परन्तु भक्ति में दृढ़ श्रद्धा रखते हैं, वे मध्यम अधिकारी हैं और जो शास्त्र युक्तियों में अनिपुण और थोड़ी श्रद्धायुक्त हैं, वे कनिष्ट अधिकारी हैं।' भक्ति रसामृत-सिन्धुविन्दु से संग्रहीत।

"लौकिकी श्रद्धायुक्त भगवत् - प्रतिमा सेवक को कनिष्ठ

भगवत् भक्तों में भी कनिष्ठ जानना होगा। ये कनिष्ठ भगवद्भक्तों में कनिष्ठ भगवद्भक्त भी कालान्तर में बड़े भगवद्भक्त हो जायेंगे। भजन करते करते जब प्राणि--मात्र में आदर-बुद्धि उत्पन्न हो जाय, तब शीघ्र फल मिलता है। इसलिये यथाकथञ्चित् भजन में अवश्य कुछ फल मिलेगा ही" (भक्ति संदर्भ में) "ऐश्वर्यदर्शी विधि-मार्ग प्रिय अनुग्राही भक्त भी मध्यम भक्त हैं। जिनको सब प्राणियों में भगवद्भाव और सब प्राणियों में भगवत्तत्व के दर्शन होते हैं, वे ही उत्तम भक्त है। ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों ही भगवान के गुण हैं। विधिपूर्वक भक्ति द्वारा माधुर्यात्मक भगवान की प्राप्ति होती है। रुचि-मार्ग द्वारा हरि-भजन करने वाला श्रेष्ठ है। दोनों में भगवत्कर्मता है, इसलिये दोनों ही सार्थक हैं।" (गोविन्द भाष्य) श्री मद्भागवत में सर्वोत्तम भक्त के लक्षण इस प्रकार कहे हैं।

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः।।

अर्थ - जो अपने उपास्य श्री भगवान् को चराचर समस्त जीवों में देखता है और चेतन-अचेतन समुदाय भूतगणों को श्री भगवान में देखता है, वही उत्तम भगवद्भक्त है।

श्रीमद्भागवद्गीता में इसी प्रकार भगवद्भक्त के 'योग युक्तात्मा' कहा है-

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शिनः।।

अर्थ - एकाग्र-चित्त योगी सब प्राणियों में समदर्शी होते हैं, वे सब प्राणियों को आत्मा में समभाव से देखते हैं और आत्मा का भी सब प्राणियों में समभाव से दर्शन करते रहते हैं।

मिथिला-राज महाराज निमि के प्रश्नों के उत्तर में परम भागवत् कवि ने भी इसी भाव की प्रतिध्वनि की है।

खं वायु मग्निं सलिलं महीञ्च,
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशा द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं,
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः।।

अर्थ- उत्तम भगवद्भक्त को आकाश, वायु, अग्नि, जल पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र तारकादि जयोतियाँ, दिशा, वृक्ष, सरोवर और समुद्रादि जो कुछ प्रदार्थ हैं, सबको श्रीहरि का शरीर जानकर अनन्य मन से प्रणाम करना चाहिए।

वत्स! श्री भगवान् में जब ऐसी उत्तम भक्ति उत्पन्न होती है, तब स्वभावतः समस्त दृश्य-प्रपंच के मिथ्या ज्ञान से वितृष्णा उत्पन्न होती है, वैराग्य का उदय हो जाता है और फिर वही भक्ति भगवान के स्वरूप का ज्ञान उत्पन्न करा देती है।

ज्ञानावतार भगवान श्रीमच्छंकराचार्य कहते हैं-'मोक्ष कारण सामग्रयां भक्तिरेव गरीयसी, अर्थात् आत्मदर्शन-प्राप्ति के निमित्त जितने प्रकार के साधन हैं, उन सबमें भक्ति ही श्रेष्ठ है।

वत्स ! त्रिविध तापों से संतप्त संसार-सागर में डूबते हुए कलिकलुष कालिमाकलंकित मनुष्यों को सहज, सरल और सुन्दर भक्ति योगाश्रय के अतिरिक्त उद्धार करनेवाला दूसरा सुखसाध्य उपाय नहीं। अधिकारी हो, अनधिकारी हो, प्रत्येक संसार-ताप-संतप्त मनुष्य को भक्ति-मार्ग आश्रयणीय और सेवनीय होता है। संसार सागर से उत्तीर्ण होने के लिए कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीनों सुप्रशस्त राज-मार्गों में से किसी एक का अवलंबन करना होगा। अधिकार-भेद से जो जिस मार्ग के योग्य होता है, वह उसी पथ का अवलंबन लेकर अग्रसर होने पर अल्पायास में सफलकाम होता है। श्री चैतन्य चरितामृत में कहा है कि-

यार येई मत सेई हय सर्वोत्तम।
तटस्थ हइया विचारि ले आछे तारतम।।

अर्थात्- जो जिस मार्ग का पथिक है, उसके लिये वही पथ सबसे अच्छा है, यह तटस्थ-होकर विचार करने पर देखा गया है कि तारतम्य क्या है अर्थात् मार्ग में निकृष्ट या अपकृष्ट विषय नहीं, यह साधक के अधिकार और योग्यता के तारतम्यानुसार है।

परन्तु तमोगुण प्रधान इस कलियुग में तमोगुणी स्वभाव वाले मनुष्यों के लिये भक्ति मार्ग ही अवलम्बनीय है। इस सरल मार्ग में कोई उपद्रव नहीं। भक्ति द्वारा निर्मल चित्त होकर स्वतः ही ज्ञान का प्रकाश हो जाता है, क्योंकि भक्ति की पराकाष्ठा ही ज्ञान है।

"भक्तेस्तु या परा काष्ठा सैव ज्ञानं परिकीर्तितम्"

त्रिपाद विभूति महानारायणोपनिषत् में कहा है।

"तस्मात् सर्व्वेषामधिकारिणामनधिकारिणां भक्तियोग एव प्रशस्यते भक्ति योगो निरुपद्रवः। भक्ति योगान्मुक्तिः। बुद्धिमतामनायासेनाचिरादेव तत्वज्ञानं भवति। तत् कथमिति भक्तवत्सलः स्वयमेव सर्व्वेभ्यः मोक्षविघ्नेभ्यो भक्तिनिष्ठाप्तः सर्वान् परिपालयति। सर्वाभीष्टान् प्रयच्छति। मोक्षं दापयति। चतुर्मुखादीनां सर्वेषामपि विना विष्णुभक्त्या कल्पकोटिभिर्मोक्षो न विद्यते। कारणेन विना कार्यं नोदेति। भक्त्या विना ब्रह्मज्ञानं कदापि न जायते। तस्मात् त्वमपि सर्वोपायान् परित्यज्य भक्तिमाश्रय, भक्तिनिष्ठो भव, भक्तिनिष्ठो भव। भक्त्या सर्वसिद्धयः सिद्धयन्ति। भक्त्याऽसाध्यं न किंचिदास्ते।"

अर्थ- अतएव अधिकारी अनाधिकारी सबको ही भक्ति योग प्रशस्त है। भक्तियोग में किसी प्रकार का विघ्न नहीं। भक्तियोग

से मुक्ति मिलती है। भक्ति द्वारा बुद्धिमान मनुष्य को शीघ्र ही तत्वज्ञान होता है। वह क्यों? क्योंकि भक्तवत्सल भगवान अपने भक्ति में निष्ठा रखने वाले साधकों की मुक्ति के सब प्रकार के विघ्नों से रक्षा करते हैं। उनके सब अभीष्ट पूरे करते हैं और मोक्ष देते हैं। चतुर्मुख ब्रह्मादि को भी विष्णु-भक्ति के बिना कोटि-कोटि कल्प में भी मुक्ति नहीं मिलती, कारण के बिना कार्य नहीं होता। भक्ति के बिना ब्रह्मज्ञान किसी प्रकार नहीं होता। इसलिए तुम भी सब उपायों का त्याग करके भक्ति का ही आश्रय लो। भक्ति-परायण बनो। भक्ति से निष्ठा प्राप्त करो। भक्ति से सब प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। भक्ति से असाध्य कुछ भी नहीं अर्थात् भक्ति द्वारा न मिले, ऐसी कोई वस्तु नहीं।

अध्यात्म रामायण के प्रथम अध्याय में लिखा है-

भक्तिः प्रसिद्धा भवमोक्षणाय।
नान्यत् ततः साधनमस्ति किञ्चित्।।

अर्थात् - भक्ति ही संसार-सागर से पार लगाने के लिये प्रसिद्ध साधन है। भक्ति के सिवाय और कोई श्रेष्ठ साधन नहीं। उक्त रामायण के चतुर्थ अध्याय में कहा है-

विष्णोर्हि भक्तिः सुविशोधनं धियः
ततो भवेज्ज्ञानमतीव निर्मलम्।
विशुद्धतत्त्वानुभवो भवेत् ततः
सम्यग् विदित्वा परमं पदं व्रजेत्।।

अर्थात् - विष्णु भक्ति से आत्मज्ञानधारणोपयोगिनी बुद्धि का उदय होता है। उससे सुनिर्मल ज्ञान अर्थात् विज्ञान और प्रज्ञान उत्पन्न होता है, उससे परमात्मा का साक्षात्कार होता है। इस प्रकार यथार्थ

तत्त्व को जानकर परम पद की प्राप्ति होती है।

वत्स! जैसे 'वृहत्वात् इति ब्रह्म' उसी तरह, 'व्यापकत्वात् इति विष्णुः'। जो वृहत् है वही व्यापक है, सुतरां ब्रह्म और विष्णु में भेद नहीं, वे दोनों एक हैं, केवल शब्दों का, नाम का ही भेद है। वस्तुतः कोई भेद नहीं, क्योंकि चैतन्य ही वृहत् और व्यापक है। यह चैतन्य ही ब्रह्म अथवा विष्णु है।

वत्स! भक्ति-पूर्वक उसका नाम लो, परन्तु अपने को मन में कभी ऊँचा मत समझो। गर्व का त्याग कर दो। तुमको कोई आदमी कुछ भी क्यों न कहे, तुम्हारी निन्दा करे, परन्तु उस पर कान न देकर धैर्य के साथ अपना कर्तव्य करने से कभी मत हटो। तुम्हारे विचार से जो तुम्हारे मन के योग्य पात्र न हो, उसका भी अपमान मत करो, उसको भी भगवान की सृष्ट सन्तान मानकर उसका आदर करके सदा भगवान् का नाम-जप और कीर्तन करते रहो।

वत्स! जहाँ गर्व और अभिमान होता है, जहाँ अधैर्य, चंचलता और वैषम्य भाव होता है, उस जगह अर्थात उसके हृदय में कभी प्रेम-भक्ति का संचार नहीं होता। वत्स देख! ये पृथ्वी पर पड़े हुए तृण, इनके ऊपर से उनको पद दलित करके कितने सैकड़ों जीव-जन्तु जाते हैं, तो भी उनको किसी पर क्रोध नहीं आता। क्रोध किसको होता है, जिसको अभिमान है, गर्व का बोध है। अभिमान से ही मनुष्य दुःखी है, अभिमान से ही मनुष्य का पतन होता है। सब प्रकार का अभिमान त्यागकर जो तृणवत् विनयी हो जाता है उसको और नीचे गिरने की आशंका नहीं रहती। देख, यह वृक्ष काटनेवाला कुठार द्वारा उस पर शतशत आघात करता है, तो भी वह उनको बिना रोये सहन करता जाता है, उसको उनका प्रतिकार करने तक की इच्छा नहीं होती। उस वृक्ष के सदृश तुमको धैर्यवान

बनना पड़ेगा। सत्यपथ से डिगाने के लिये तुमको कोई कितना भी क्यों न कहे, सत्यपथ से हटाने की कितनी भी चेष्टा करे और कितने भी उपाय करे, परन्तु उसके सब अत्याचार हँसते हुए सहन करने पड़ेगा। जैसे यवन हरिदास को काजी ने हरिनाम से हटाने के लिये कठोर बेंतों से कोड़े लगवाये, कितना अत्याचार किया, तो भी उसको एक क्षण के लिये भी नाम से नहीं हटा सका और पश्चात् उस काजी ने श्री भगवान् की कृपा से अपने पापों के लिए अनुताप करके हरिनाम ग्रहण किया और पीछे प्रसिद्ध भक्त में परिणत हो गया। वैसे ही भक्त प्रह्लाद को हरिनाम से च्युत करने के लिये उसके पिता दैत्यकुलाधिपति हिरण्यकश्यप ने कितना क्या नहीं किया ? प्रह्लाद के प्राण लेने के लिये भोजन में विष मिलाया, हाथी के पैरों के तले कुचलवाया, पर्वत के शिखर से नीचे गिराया, समुद्र और अग्नि में फिंकवाया, परन्तु जिसके प्राण कृष्ण में लगे थे, वह भक्त प्रह्लाद कितना धैर्यवान था कि एक क्षण के लिए भी हरि नाम से विचलित नहीं हुआ और उस प्रह्लाद के प्राणों की भक्त-वत्सल श्रीभगवान् ने किस प्रकार रक्षा की, यह हिन्दू मात्र में किसी को अविदित नहीं। वत्स! इस तरह धैर्य-युक्त होकर तुमको भी उसका नाम लेना होगा, तभी तो नाम की सिद्धि मिलेगी।

प्रेमावतार श्री कृष्ण चैतन्य कहते हैं-

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः।।

अर्थात् तिनके से भी अधिक विनयी और वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु होकर सम्मान न करने योग्य व्यक्ति को भी मान-दान पूर्वक, अपना अभिमान चूर्ण करके सदा श्री हरिनाम का कीर्तन करते रहना चाहिये।

गुरु करने की आवश्यकता

वत्सगण! तुम कह सकते हो कि ईश्वर का नाम तो सब लेते ही हैं, तब नाम लेने से उनमें आनन्द और भक्त के लक्षण क्यों नहीं प्रकाश पाते हैं? आनन्द-दायिनी, भक्ति-प्रदायिनी, ज्ञानदा, योगदा और मोक्षप्रदा श्री कुण्डलिनी देवी जब तक मूलाधार में सोई पड़ी हैं, तब तक उसके न जागने से सभी सो रहे हैं, उसके जागने से सब जागते हैं, सबकी निद्रा भंग होती है।

आधारशक्तिनिद्रायां विश्वं भवति निद्रया।
तस्यां शक्तिप्रबोधेन त्रैलोक्यं प्रतिबुध्यते।।

योगशिखोपनिषत्

क्या सोया हुआ मनुष्य कुछ भी करने में समर्थ होता है? यदि सोये हुए लोगों से काम लेना चाहते हो, तो पहले उनको जगाना पड़ेगा। उसी तरह यदि नाम जप का आनन्द पाना चाहो, नाम द्वारा सिद्धि प्राप्त करना चाहो, तो नाम की शक्ति अर्थात् मूलाधार में सोती हुई कुण्डलिनी देवी को जगाओ[१]।

गौतमीय और गंधर्व दोनों तंत्रों में लिखा है-

मूलपद्मे कुण्डलिनी यावन्निद्रायिता प्रभो।
तावत् किञ्चिन्न सिध्येत मंत्रयंत्रार्चनादिकम्।।
जागर्ति यदा सा देवी बहुभिः पुण्यसंचयैः।
तदा प्रसादमायाति मंत्रयंत्रार्चनादिकम्।।

अर्थ- हे प्रभो! जब तक मूलाधार में कुण्डलिनी -शक्ति सोई हुई है, तब तक मंत्र, यंत्र, अर्चनादि सफल नहीं हो सकते। यदि बहुत

१. कुण्डलिनी शक्ति के विषय में मत्प्रणीत 'योगवाणी' देखें।

जन्मों के पुण्यों के फलस्वरूप कुण्डलिनीशक्ति जाग्रत हो, तब उस जागने पर उसकी कृपा से मंत्र, यंत्र और अर्चनादि सफल होते है

वत्स! उसे जगाना होगा और उसे जगाने के लिये ही तो श्रीगु का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। 'तस्मात् सर्व प्रयत्नेन गुरु-पा समाश्रयेत्।' नहीं तो मंत्र और नाम तो पुस्तकों में लिखे रहते है जो श्री गुरु-शक्ति के बल से अथवा शक्ति की कृपा से मनुष्यभा से गुरु पद अथवा आत्मतत्व में स्थिति प्राप्त है, वे ही जब त शिष्य में शक्ति-संचार नहीं करते, तब तक शिष्य मंत्र अथवा ना जप द्वारा सिद्धि प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता। कुलार्णव तंत्र दिया है कि-

शक्तिपातानुसारेण शिष्योऽनुग्रहमर्हति।
यत्र शक्तिर्न पतति तत्र सिद्धिर्न जायते।।

अर्थ- शक्तिपात द्वारा शिष्य गुरु के अनुग्रह को प्राप्त कर के योग्य होता है। जब तक शक्ति संचार नहीं होता, तब तक सि पाना असंभव है।

वत्स, जैसे पिता के वीर्य और माता के रज के मिश्रित हो पर यथासमय पुत्र अथवा कन्या उत्पन्न होती है, वैसे ही गुरु क शक्ति शिष्य में संचारित होने पर शिष्य के भीतर सोई हुई शक्ति जाग जाती है और यथासमय ज्ञानरूपी पुत्र और भक्तिरूपी कन्या उत्पन्न करती है। वत्स इस विषय में यह भी ध्यान रखना चाहि कि जैसे बंध्या स्त्री में वीर्यपात होने पर भी वह सन्तान का मुख देखने से वंचित रहती है, वैसे ही गुरु-भक्ति-हीन शिष्य भी शक्तिपात होने पर भी पराशान्ति - प्राप्ति के लिये स्वरूप-ज्ञान और भक्तिरूपी सन्तान से वंचित रहता है। गुरु-भक्तिहीन शिष्य में कभी भी आत्मतत्व अथवा श्री भगवत्तत्व प्रकाश नहीं पाता। गुरु भक्त में ही वे प्रकाश पाते हैं। श्वेताश्वेतरोपनिषत् में कहा है :-

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।

अर्थ- जिसकी देव में अर्थात् सच्चिदानंद परमेश्वर में पराभक्ति है और वैसे ही गुरु में भी पराभक्ति है, उसी महात्मा में पूर्वकथित आत्मतत्व प्रकाशित होता है।

गंधर्व तंत्र में कहा है :-

यस्य भक्तिर्गुरौ नित्यं वर्तते देववत् प्रिये।
तस्य सर्वार्थ-सिद्धिः स्यान्नान्यथा खलु पार्वति।।

अर्थात् हे प्रिये पार्वति ! गुरु में जिसकी ईश्वर के सदृश भक्ति सदा रहती है, उसके सकल उद्देश्य सफल होते हैं। उद्देश्य सिद्धि का अन्य उपाय नहीं।

वत्स! जो शक्ति-संचार द्वारा शिष्य पर अनुग्रह करने में समर्थ है, ऐसे महापुरुष को ही गुरु कहना चाहिये, अन्य को नहीं।

श्रीगुरु कृपा-पूर्वक शिष्य में शक्ति-संचार करके, शिष्य की मूलाधार -स्थित शक्ति को जगाकर, शिष्य को उसके संस्कारानुसार कर्म, भक्ति और ज्ञान का अधिकारी बनाते हैं। अर्थात् जिनके कर्म के संस्कार हैं, उनको कर्मयोग में (आसन, मुद्रा, प्राणायाम इत्यादि में), जिनके भक्ति के संस्कार हैं, उनको भक्तियोग में और जिनके ज्ञान के संस्कार है, उनको ज्ञानयोग में लगा देते हैं। अन्त में उनको, जो सभी का एकमात्र उद्देश्य है, उसी आनंद की प्राप्ति करा देते हैं, अर्थात् आनंद स्वरूप आत्मा में स्थिति करा देते हैं।

कुलार्णव तंत्र में श्री महादेव पार्वती जी से कहते हैं-

गुरोर्यस्यैव संस्पर्शात् परानंदोऽभिजायते।
गुरुं तमेव वृणुयात् नापरं मतिमान्नरः।।

अर्थ- हे देवि! जिस गुरु के स्पर्श से शिष्य में परानंद प्रकाश हो, बुद्धिमान मनुष्य उसे ही गुरु बनावे, अन्य को नह

योगवाशिष्ठ महारामायण में कहा है-

दर्शनात् स्पर्शनात् शब्दात् कृपया शिष्यदेहके।
जनयेद्यः समावेशं शांभवं स हि देशिकः।।

जो कृपापूर्वक दर्शन, स्पर्श या शब्द द्वारा मंत्र अथवा न देकर शिष्य के देह में मंगलमय ज्ञान-भाव उत्पन्न कर सकें, ही गुरु हैं।

कुलार्णव तंत्र में कहा है :-

ये दत्त्वा सहजानंदं हरन्तीन्द्रियजं सुखम्।
सेव्यास्ते गुरवः शिष्यैरन्ये त्याज्याः प्रतारकाः।।

अर्थ- जो शिष्य को सहजानंद देकर इन्द्रियों के सुखों हर लेते हैं, वे ही गुरु सेवा करने के योग्य हैं, इनके सिवाय अ गुरु प्रतारक हैं, वे त्यागने चाहिये।

आचार्यो वेदसंपन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः।
योगज्ञो योगनिष्ठश्च योगात्मकस्तथा शुचिः।।
गुरुभक्तिसमायुक्तः पुरुषज्ञो विशेषतः।
एवं लक्षणसंपन्नो गुरुरित्यभिधीयते।।

अर्थ- जो वेदोक्त ज्ञानसम्पन्न, परमेश्वर की भक्तियुक्त मत्सरादि दोष-हीन योगवित् (योग का विषय जानने वाला), यो परायणा (प्रतिनियत योगानुष्ठान करने वाला), योगात्मक (योग द्वार आत्मस्थित), अन्तर्वहिः शौचाचार-सम्पन्न, गुरु भक्ति समायुक्त और इस नौ द्वार वाले देह रूपी पुरी में निवास करने वाले पुरु अर्थात् आत्मा के ज्ञान से संपन्न हों, ऐसे आचार्य को गुरु कहते हैं

वत्स ! जो स्ववर्णाश्रमोचित आचरणों का पालन करता है और शिष्य को सदाचार की शिक्षा देता है, वही आचार्य है। शास्त्र में आचार्य के लक्षणों के सम्बन्ध में कहा है -

आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन कीर्तितः।।

अर्थ- जो शास्त्र के वास्तविक तात्पर्य का संग्रह करता है, लोकसमाज को शास्त्रानुसार आचार में संस्थापित करता है और स्वयं भी शास्त्रोक्त आचारों का प्रतिपालन करता है, उसे आचार्य कहते हैं।

गुरुभक्ति, श्री गुरु और ईश्वर में अभेद

वत्स! श्री गुरु और ईश्वर में भेद-बुद्धि नहीं करना, तभी ईश्वरानुग्रह का अनुभव शीघ्र ही करके कृतार्थ हो सकोगे। जगद्गुरु भगवान् श्रीमच्छङ्कराचार्य ने अपने 'सर्व-वेदान्त सिद्धान्तसार-संग्रह' में कहा है-

शिव एव गुरुस्साक्षात् गुरुदेवः शिवः स्वयं।
उभयोरन्तरं किञ्चिन्न द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः।।

अर्थात् शिव ही साक्षात् गुरु हैं और गुरु ही स्वयं शिव हैं। दोनों में भेद है, यह विचार मुमुक्षुओं के हृदय में कभी नहीं आना चाहिये। कुलार्णव तंत्र में कहा है-

भोगमोक्षार्थिनां ब्रह्मोविष्णवीशपदकांक्षिणाम्।
भक्तिरेव गुरौ देवि नान्यः पन्था इति श्रुतिः।।
स शिवो गुरुरूपेण भुक्तिमुक्तिप्रदो मम।
इति भक्त्या स्मरेद्यस्तु तस्यसिद्धिरदूरतः।।

अर्थ- हे देवी ! भोग और मोक्ष की इच्छा रखने वालों को

और ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर के पद-प्राप्ति की कामनावालों को प्रा
के निमित्त श्रीगुरु में भक्ति ही एकमात्र उपाय है, दूसरा मार्ग न
ऐसा ही वेदों का कहना है। शिव गुरु के रूप में मुझको भोग अ
मोक्ष प्रदान करेंगे, ऐसा जानकर भक्ति सहित गुरु का स्मरण क
तो उसके लिये सिद्धि दूर नहीं। कुलार्णवतंत्र में अन्यत्र कहा है

श्रीगुरुं प्राकृतैः सार्द्धं ये स्मरन्ति वदन्ति वा।
तेषां हि सुकृतं सर्वं पातकं भवति प्रिये।।

अर्थ- श्री गुरु को साधारण मनुष्य के सदृश मानकर जो उन
स्मरण अथवा कथन करते हैं, उनके सब सुकृत पाप हो जाते है

नरवद् दृश्यते लोके श्रीगुरुः पापकर्मणा।
शिववद् दृश्यते लोके भवानि पुण्यकर्मणा।।
श्रीगुरुः परमं तत्त्वं तिष्ठते चक्षुरग्रतः।
मंदभाग्या न पश्यति ह्यन्धाः सूर्यमिवोदितम्।।

अर्थ- पापों के कारण जिनका चित्त कलुषित है, उनको गु
मनुष्य के समान दीख पड़ते हैं, और पुण्य-कर्मों के द्वारा जिनक
चित्त निर्मल हो गया है, वे गुरु को साक्षात् शिव रूप में ही देख
हैं। जैसे अंधा आदमी आकाश में उदय हुए सूर्य के दर्शन कर
में असमर्थ है, वैसे ही मंद-भाग्य व्यक्ति की आँखें अपने सम्मुख
उपस्थित परमतत्वरूप श्री गुरु को नहीं देख पातीं। योग-शिखोपनिष
में कहा है-

यथा गुरुस्तथैवेशो यथैवेशस्तथा गुरुः।
पूजनीयो महाभक्त्या न भेदो विद्यतेऽनयोः।।

अर्थ- जैसा गुरु वैसा ही ईश्वर, जैसा ईश्वर वैसा ही गुरु
इसलिए गुरु को ईश्वर समझकर महती भक्ति सहित उसका पूज
करना चाहिये। दोनों में कोई भेद नहीं। ब्रह्मविद्योपनिषद् में कहा है-

"गुरुरेव हरिः साक्षात् नान्य इत्यब्रवीत् श्रुतिः"। अर्थात् गुरु ही साक्षात् हरि हैं अन्य नहीं, ऐसा श्रुति अर्थात् वेद कहते हैं। श्रीमद्भागवत में श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र उद्धव से कहते हैं -

आचार्यं मा विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः।।

गुरु को मत्स्वरूप (भगवत्स्वरूप) समझना चाहिये, उनकी कभी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए और मनुष्य-बुद्धि से कभी उनसे द्वेष नहीं करना चाहिए अर्थात् दोष ढूँढ़ने को प्रवृत्त नहीं होना चाहिए, क्योंकि गुरु सर्व देवताओं का रूप है। मनुसंहिता में दिया है 'आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः' अर्थात् आचार्य या गुरु ही वेदान्त-प्रतिपाद्य ब्रह्म की मूर्ति है। बाधसार में लिखा है-

गुरोरनुग्रहादीश ईश्वरानुग्रहाद् गुरुः।
श्रीगुरोर्दर्शनं हेतुः परन्त्वीश्वरदर्शने।।

गुरु का अनुग्रह होने पर ईश्वर की प्राप्ति होती है और ईश्वर के अनुग्रह से गुरु मिलते हैं, परन्तु श्री गुरु का दर्शन ही ईश्वर के दर्शन का हेतु होने से भक्त ईश्वर की अपेक्षा भी श्रेष्ठ है।

ईश्वरः सर्वहेतुत्वाद्धेतुः संसारमोक्षयोः।
मोक्षस्यैव गुरुस्तस्मान्नास्ति तत्त्वं गुरोः परम्।।

ईश्वर सबका कारण होने से संसार ओर मोक्ष दोनों का कारण है और गुरु केवल मोक्ष के ही हेतु हैं, इसलिये गुरु की अपेक्षा परम तत्व दूसरा नहीं।

गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागूँ पाँव।
बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दियो बताय।।

वत्स! वास्तविक ईश्वर का अनुग्रह होने से गुरु की प्राप्ति

होती है। श्रीभगवान् श्री मच्छङ्कराचार्य अपने सर्व-वेदान्त सिद्धान्त-सार-संग्रह में लिखते हैं।

जन्मानेकशतैः सदाचारयुजा भक्त्या समाराधितो।
भक्तैर्वैदिकलक्षणेन विधिना सन्तुष्ट ईशः स्वयम्।
साक्षात् श्रीगुरुरूपमेत्य कृपया दृग्गोचरः सन् प्रभुः।
तत्त्वं साधु विबोध्य तारयति तान् संसारदुःखार्णवात्।

अर्थ - सैकड़ों जन्मों में सदाचार-युक्त भक्ति द्वारा और वेद विहित कर्मानुष्ठान द्वारा परमेश्वर की आराधना करने पर भक्तवत्सल भगवान अपने भक्त की उपासना से सन्तुष्ट होकर स्वयं साक्षात् गुरु-रूप धारण करके कृपया दृष्टिगोचर होते हैं और उसको सम्यक् तत्त्व का उपदेश करके संसार रूपी दुःखसागर से उद्धार करते हैं, अर्थात् परम शान्ति प्रदान करते हैं। कुलार्णव तंत्र में कहा है :-

सर्वानुग्रह-कर्तृत्वादीश्वरः करुणानिधिः।
आचार्यरूपमास्थाय दीक्षया मोक्षयेत्पशून्।।

अर्थ - ईश्वर सब प्रकार अनुग्रह करने में समर्थ है, इसलिये करुणानिधि ईश्वर करुणापूर्वक गुरु का रूप धारण करके जीवों का उद्धार करता है।

वत्स! यदि मंत्र अथवा नाम-साधन द्वारा सिद्धि -लाभ करके कृतार्थ होना चाहो, तो गुरु में कभी भी मनुष्य-बुद्धि मत करो और मंत्र अथवा नाम को कभी भी 'अक्षर समूह' अर्थात् शब्द-मात्र मत समझो। मंत्र अथवा नाम भी अक्षरों के रूप में भगवान ही हैं। कुलार्णव तंत्र में कहा है-

गुरौ मानुष-बुद्धिं च मंत्रे चाक्षर-बुद्धिकम्।
प्रतिमासु शिलाबुद्धिं कुर्वाणो नरकं व्रजेत्।।

अर्थ- जो मनुष्य गुरु में मनुष्य बुद्धि-मंत्र में अक्षर-बुद्धि और प्रतिमा में पत्थर की बुद्धि रखता है वह मनुष्य नरकगामी होता है। श्री शारदा तिलक की टीका में कहा है।

गुरुं न मर्त्यं बुध्येत यदि बुध्येत तस्य तु।
कदापि न भवेत् सिद्धिर्न मन्त्रैर्देवपूजनैः।।

अर्थ - गुरु में कभी मनुष्य-बुद्धि न करे। जो गुरु को मनुष्य समझता है, उसको मंत्र के जप और देवताओं के पूजन से कभी सिद्धि नहीं होती।

वत्स ! गुरु दो प्रकार के होते हैं; (१) जो स्वयं मोहपाश में बद्ध है, जिसका इस मनुष्य-देह में से 'मैं' और 'मेरेपन' का भाव नहीं गया है और जो इस अविद्या रूप अन्धकार में पड़ा हुआ स्त्री, पुत्र और पशु आदि विषयों की अनन्त वासनाओं में फँसा हुआ है वह शिष्य के मोहपाशों को काटने में समर्थ नहीं हो सकता। उसने शास्त्रादि के अध्ययन द्वारा कितना भी पाण्डित्य क्यों न प्राप्त किया हो, उसका सारा ज्ञान परोक्ष ज्ञान मात्र है, इसलिये ऐसे परोक्ष ज्ञानी के उपदेश से शिष्य के हृदय में परोक्ष ज्ञान ही उत्पन्न होगा और जिसके द्वारा निरवच्छिन्न शान्ति और अखण्ड आनन्द की प्राप्ति होती है, उस अपरोक्ष ज्ञान का प्रकाश उसमें नहीं हो सकता। इस प्रकार जिस गुरु की अपने मानुष देह से आत्मबुद्धि नष्ट नहीं हुई है, वह मनुष्य मनुष्यपद वाच्य है, वह ईश्वरपद वाच्य नहीं; (२) जो इस अनित्य देहादि में 'मैं' और 'मेरेपन' का बोध नहीं रखते, जो गुरु-शक्ति प्राप्त कर गुरुत्व अर्थात् ब्रह्मतत्व में (आत्मतत्व में) आरूढ़ हो रहे हैं, ऐसे गुरु और ईश्वर में वस्तुतः कोई भेद नहीं। शास्त्रादि ऐसे गुरु की ईश्वर -बुद्धि से पूजा और ध्यान करने का उपदेश करते हैं। ऐसे गुरु ही तत्वोपदेश देकर शिष्य की भ्रान्ति

नष्ट करने में समर्थ हैं और शिष्य भी ऐसे शक्ति-संपन्न सामर्थ्यवान सद्गुरु की कृपा पाकर ही कर्म, ज्ञान और भक्ति प्राप्त करने में समर्थ और कृतार्थ होते हैं। कहा है :-

शब्दार्थज्ञः स्वात्मतत्त्वानुभवी च गुरुर्द्विधा,
आद्यो नरो न तु ब्रह्म नरत्वभ्रान्त्यनाशनात्।
तेनोक्ते संशया एव स्युर्वाच्या बहुयोजनात्,
ब्रह्मैवानुभवी तेन ब्रह्म प्रोक्तं विबुध्यते।।

अनुभूतिप्रकाश अ. ११

अर्थ- गुरु दो प्रकार के हैं एक प्रकार का वह जो शास्त्रों का अर्थ समझता है, परन्तु आत्मानुभूति नहीं रखता, और दूसरा गुरु वह है, जो अपने आत्मतत्व का अनुभव करता है। पहिला गुरु मनुष्य मात्र है, ब्रह्म नहीं। क्यों नहीं ? क्योंकि उसकी इस मनुष्य देह पर से "मैं" और "मेरेपन" की बुद्धिरुपी भ्रान्ति नष्ट नहीं हुई है। ऐसे गुरु के आत्मतत्वोपदेश करने से उसके द्वारा केवल अधिक संशय उत्पन्न होंगे, किसी प्रकार निश्चय ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि परोक्षज्ञानी केवल शास्त्रों के वाक्यों का नाना प्रकार से अन्वय कर सकते हैं, परन्तु जिसने आत्म-तत्वानुभव किया है वह तो स्वयं ब्रह्मस्वरूप ही है। श्रुति का वचन है- 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' ब्रह्म को जाननेवाला मनुष्य स्वयं ब्रह्म हो जाता है, ऐसे गुरु के ब्रह्मविषयक उपदेश करने से उसके द्वारा ज्ञान लाभ होता है।

वत्स! ऐसा गुरु ही सद्गुरु-पद-वाच्य है। 'स एव सद्गुरुः साक्षात् यः सदसद् ब्रह्मवित्तम' अर्थात् जो सगुण निर्गुण ब्रह्म को संपूर्ण रूप से जानता है, वही सद्गुरु है।

निर्गुण ब्रह्म ही सत् और सगुण ब्रह्म ही असत् कहलाता है। 'यज्जन्यं तदनित्यम्'। जिसका जन्म होता है उसका नाश भी होता

है, इस न्याय के अनुसार माया-ब्रह्म अथवा सगुण-ब्रह्म का अस्तित्व तब तक है, जब तक माया या लीला रहती है, मायातीत अवस्था को ही निर्गुण कहते हैं। देवीभागवत् में कहा है :-

निर्गुणं सगुणं चेति द्विधा मद्रूपमुच्यते।
निर्गुणं मायया हीनं सगुणं मायया युतम्।।

अर्थ- निर्गुण और सगुण भेद से मेरे दो रूप हैं। जो माया रहित है, वह निर्गुण है और जो माया के अन्तर्गत है, वही सगुण कहलाता है।

वत्स ! सद्गुरु की कृपा होने पर शिष्यों में क्रमशः कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग का प्रकाश होता है। सद्गुरु की कृपा के बिना भक्ति और ज्ञान की प्राप्ति असंभव है।

त्रिपाद-विभूति महानारायणोपनिषत् में कहा है-

यथा जातान्धस्य रूपज्ञानं न विद्यते, तथा गुरूपदेशेन विना कल्पकोटिभिः तत्त्वज्ञानं न विद्यते। तस्मात् सद्गुरुकटाक्षलेशविशेषाणां चिरादेव तत्त्वज्ञानं भवति। यदा सद्गुरु-कटाक्षो भवति तदा भगवत्कथा-श्रवणध्यानादौ श्रद्धा जायते। तस्मात् हृदयस्थितानादि दुर्वासनाग्रंथिविनाशो भवति। ततो हृदयस्थिताः कामाः सर्वे विनश्यन्ति। तस्मात् हृदयपुण्डरीक-कर्णिकायां परमात्माविर्भावो भवति। ततो दृढतया वैष्णवी भक्तिर्जायते। ततो वैराग्यमुदेति। वैराग्याद् बुद्धिविज्ञानाविर्भावो भवति। अभ्यासात् तद्ज्ञानं क्रमेण परिपक्वं भवति। पक्वविज्ञानाज्जीवन्मुक्तो भवति। ततः शुभाशुभ-कर्माणि सर्वाणि सवासनानि नश्यन्ति। ततो दृढ़तरशुद्ध-सात्त्विक वासनया भक्त्यतिशयो भवति। भक्त्यतिशयेन नारायणः सर्वमयः सर्वास्ववस्थासु विभाति। सर्वाणि जगन्ति नारायणमयानि प्रविभान्ति।

अर्थ- जो मनुष्य जन्मांध है, उसे जैसे कभी रूप का ज्ञान

नहीं होता, वैसे ही गुरूपदेश के बिना कोटि कल्पों में भी तत्व-ज्ञान नहीं होता। अतएव सद्गुरु की कृपा-दृष्टि होने से शीघ्र ही तत्व ज्ञान होता है। जब सद्गुरु का कृपा-कटाक्ष प्राप्त होता है, तब भगवत्कथा श्रवण और ध्यानादि में श्रद्धा उत्पन्न होती है, उससे हृदय-स्थित अनादि दुर्वासनाओं की ग्रन्थि टूटती है। उसके पश्चात् हृदय-स्थित सब प्रकार की कामनायें नष्ट होती हैं, तदन्तर अर्थात् सब कामनाओं के नष्ट होने पर हृदय -कमल की कर्णिका में परमात्मा का आविर्भाव अर्थात् प्रकाश अनुभव में आता है। जब दृढ़ भगवद्भक्ति उत्पन्न होती है, उससे वैराग्य उत्पन्न होता है। फिर वैराग्य से बुद्धि में विज्ञान का आविर्भाव होता है, अभ्यास द्वारा वह ज्ञान क्रम से पक्व होता है। विज्ञान के पक्व होने पर, अर्थात् जब एक ब्रह्म के सिवाय दूसरी किसी वस्तु की सत्ता न दिखे, 'मैं' और जो कुछ दिख रहा है, वह सब ब्रह्म ही है, ऐसा ज्ञान दृढ़ होने पर जब जीवनमुक्त हो जाता है, उसके पिछले शुभाशुभ कर्म वासनाओं सहित नहीं रहते। तदन्तर दृढ़ सात्विक वासना से अतिशय भक्ति उत्पन्न होती है। अतिशय भक्ति उत्पन्न होने पर सर्वमय नारायण सब अवस्थाओं में प्रकाशित रहने लगते हैं, सारा जगत् ही नारायणमय दिखने लगता है।

वत्स! जिस सद्गुरु के कृपाकटाक्ष से वह दुर्लभ विष्णु-भक्ति उत्पन्न होती है, उसके बराबर बंधु तीनों लोकों में और कोई नहीं है। एकमात्र गुरु ही मनुष्य का सच्चा बंधु है। पिता, माता, बांधव सब एक वह गुरु ही है। नारद पंचरात्र में लिखा है-

स गुरुः स पिता वन्द्यः सा माता स पतिः सुतः।
यो ददाति हरौ भक्तिं कर्ममूलनिकृन्तनीम्।।

अर्थ- जो कर्म की जड़ अविद्या का नाश करनेवाली हरि भक्ति प्रदान करता है, वह गुरु, वही पिता वंदनीय है, वही माता, रक्षा करने वाला पति और सेवा करके पालने योग्य सन्तान (पुत्र) भी वही है। क्रियासार में कहा है -

गुरुर्माता पिता स्वामी बांधवः सुहृदः शिवः।
इत्याध्याय मनो नित्यं भजेत्सर्वात्मना गुरुम्।।

अर्थ - गुरु ही माता, पिता, स्वामी, बांधव, सुहृद् और शिव स्वरूप है, ऐसी मन में धारणा करके सब प्रयत्न से उसकी सेवा करें।

वत्स ! जैसे पिता इस मल-मूत्र-पूर्ण शरीर का जन्मदाता है, वैसे ही गुरु निर्मल ब्रह्मज्ञान का जन्मदाता है, अर्थात श्री गुरु पहले अपनी पवित्र शक्ति शिष्य में संचारित करके उसको पवित्र ज्ञान और भक्ति पाने की योग्यता प्रदान करता है और जीव ब्रह्मैक्य ज्ञानोपदेश द्वारा शिष्य को इस अनित्य शरीरादि में 'अहंबुद्धि' का, जिससे शिष्य 'मैं मनुष्य हूँ,' 'मैं ब्राह्मण हूँ' इत्यादि मानकर दुःख के हेतु नानाविध वासनाओं में फँसा हुआ नानाविध कर्म करता है और उन कर्मों के हेतु अविद्या अथवा अज्ञान का भी, नाश करके, शिष्य को आत्मस्वरूप, ब्रह्मस्वरूप अथवा चैतन्यस्वरूप का बोध कराकर उस पर आरूढ़ कराता है, इसी से तो गुरु पिता है। मनुष्य माता-पिता से तो अस्थि-मांस का शरीर पाता है, जो नाशवान है, परन्तु श्री गुरु रूप पिता से तो चिन्मय ब्रह्मज्ञान स्वरूप देह की प्राप्ति होती है, उसका नाश नहीं, इसलिये माता- पिता की अपेक्षा गुरु श्रेष्ठ है।

पित्रोरप्यधिकः प्रोक्तो ब्रह्मजन्मप्रदायकः।
पितृजातं जन्म नष्टं नेदं जातं कदाचन।।

देवीभागवत १-३५-४

अर्थ- जो मनुष्य ब्रह्मरूप जन्म देता है, वह पिता की अपेक्षा भी श्रेष्ठ है और माननीय है, इसमें संदेह नहीं, क्योंकि पिता जिस देह को जन्म देता है, वह नश्वर है, परन्तु गुरु जो ब्रह्मरूप जन्म देता है, उसका कभी नाश नहीं होता।

मनुस्मृति में कहा है-

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम्।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं स्मश्नुते।।

मातृ-भक्ति से यह लोक और पितृ-भक्ति से अन्तरिक्ष लोक और गुरु की सेवा से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। कुलार्णव तंत्र में कहा है-

गुरुभक्त्या यथादेवि प्राप्यन्ते सर्वसिद्धयः।
यज्ञदानतपस्तीर्थव्रताद्यैर्न तथा प्रिये।।
श्रीगुरौ निश्चला भक्तिर्वर्द्धते हि यथा-यथा।
तथातथास्य विज्ञानं वर्द्धते कुलनायिके।।

अर्थ - हे देवी! गुरु-भक्ति द्वारा सर्वाभीष्ट की सिद्धि जितनी होती है उतनी यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि से नहीं होती। श्री गुरु में ज्यों निश्चला भक्ति बढ़ती है, वैसे ही शिष्यों के तत्व-ज्ञान की वृद्धि होती है।

वत्स! जैसे माता अपनी सन्तान को स्तनों का दूध पिलाकर पालन पोषण करती है, वैसे ही गुरु अपने शिष्यों को इस संसार के मिथ्यात्व, इन शरीरादि के ज्ञान का पालन-पोषण करते रहते हैं, जिससे उनकी ब्रह्म में स्थिति होकर अपनी स्थिति से च्युत न हों, इसी से वे माता तुल्य हैं। जैसे पति अथवा स्वामी उत्तम पुत्र की प्राप्ति के लिये अपनी स्त्री की व्यभिचारादि पापों से रक्षा करता

है और उससे पुत्र उत्पन्न करता है, वैसे ही कृपानिधि गुरु उपदेशादि द्वारा शिष्यों की रक्षा करते हैं, जिससे शिष्यों के मन सदा एकतत्वाभ्यास में रत रहें, उनमें अव्यभिचारिणी भक्ति उदय हो, अर्थात् परमात्मा-तत्व में एक निष्ठा उत्पन्न हो और उनके ज्ञानरूपी पुत्र उत्पन्न हो। इसी से वे रक्षा करने वाले पति के समान हैं।

वत्स! इस प्रकार जो गुरु है, वह शिष्यों के द्वारा पालन योग्य है, इसीलिये वह सन्तानस्वरूप कहा गया है। गुरु का पालन करना शिष्यों का कर्तव्य है, पुत्र का जैसे प्रेमपूर्वक पालन किया जाता है, वैसे ही शिष्य को गुरु का पालन करना चाहिए। पिता जैसे पुत्र को बिना कहे उसकी इच्छानुसार अपने प्राणों से अधिक समझकर पालन करता है, वैसे ही गुरु भी संतानवत् पालने योग्य है। वत्स! गुरु-सेवा-विहीन शिष्यों को गुरु का उपदेश वीर्यवान नहीं होता। श्री भगवान् श्री मच्छंकराचार्य ने अपने सर्व-वेदान्त-सिद्धान्त संग्रह में लिखा है-

शुश्रूषया सदा भक्त्या प्रणामैर्विनयोक्तिभिः।
प्रसन्नं गुरुमासाद्य प्रष्टव्यं ज्ञेयमात्मनः।।

अर्थ- सेवा, परिचर्या, सद्भक्तियुक्त प्रणाम और विनयपूर्ण वचनों से गुरु को प्रसन्न करके उनसे अपनी जिज्ञासा का विषय पूछना चाहिए।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं :-

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।

अर्थ- वह आत्मज्ञान प्राप्त करना है, तो शास्त्रज्ञ, श्रोत्रिय ज्ञानी और तत्वदर्शी गुरु के पास जाकर विनयपूर्वक दण्डवत् प्रणाम करके

पूछना चाहिए "हमें संसार के बंधन क्यों हैं ? मैं कौन हूँ ? संसार क्या है ? मुक्ति किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है ? बंधन क्या है ? मोक्ष क्या है ? विद्या क्या है ? अविद्या क्या है ?" इत्यादि प्रश्न करके भृत्यवत् परिचर्या द्वारा उनको प्रसन्न भी करना चाहिए। तुम्हारी ऐसी भक्ति, विचार और श्रद्धा से प्रसन्न होकर वे तुमको आत्मतत्व का उपदेश प्रदान करेंगे। वत्स! सब साधनों की जड़ गुरुभक्ति है। व्यास स्मृति में कहा है-

गुरुमूलाः क्रियाः सर्वा भुक्तिमुक्तिफलप्रदाः।
तस्मात्सेव्यो गुरुर्नित्यं युक्तार्थस्तु समाहितैः।।

अर्थ- भोग और मोक्ष दोनों फलों के देने वाले सब क्रिया समुदाय गुरु की कृपा के ऊपर निर्भर है। इसलिए सदा समाहित चित्त से तत्वज्ञ गुरु की सेवा करनी चाहिए।

वत्स! एकमात्र गुरुभक्ति द्वारा ही शिष्य अपने अभीष्ट की सिद्धि करता है। इस विषय पर हमारे शास्त्रों में बहुत दृष्टान्त देखने में आते हैं, जैसे गुरु-भक्त एकलव्य, जावाल, सत्यकाम, श्रायोद, धौम्य ऋषि का शिष्य आरुणि, उपमन्यु, वेद ऋषि का शिष्य उत्तंक और हमारे जगद्गुरु भगवान् श्री शंकराचार्य के शिष्य त्रोटकाचार्य इत्यादि। वत्स! शास्त्र ही तो हमलोगों के लिये प्रमाण हैं। जिसको शास्त्रों के वचनों में विश्वास नहीं वे ही तो नास्तिक हैं। यदि शान्ति प्राप्त करना चाहते हो, तो शास्त्र-विधिपूर्वक कार्य करने होंगे। जो स्वेच्छाचारी और उच्छृंखल हैं, वे कभी शान्ति नहीं पा सकते। शान्ति कैसे मिले और अशान्ति का क्या कारण है तथा कर्तव्याकर्तव्य क्या है, इन सबका प्रमाण तो शास्त्र ही है। गीता में श्री भगवान् कहते हैं।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।।

१७:२३-२४

अर्थ- जो मनुष्य शास्त्रविहित धर्माचरण का परित्याग करके यथेच्छाचारी होकर कार्य करता है, उसे तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। इहलोक और परलोक में सुख अथवा मोक्ष की उत्तम गति भी उसे नहीं मिलती। इसलिए क्या कार्य है और क्या अकार्य है, यह जानने के लिए तुम्हारे लिए श्रुतिस्मृतिपुराणादि शास्त्र ही प्रमाण हैं। सुतरां शास्त्रीय विधानानुसार विहित अथवा निषिद्ध कर्म जानकर निषिद्ध कर्मों का त्याग करके, अपने अधिकारानुसार विहित कर्मों का अनुष्ठान करना तुम्हारा कर्तव्य है।

भक्ति के लक्षण

वत्स ! जो अपनी साधना शक्ति का शिष्यों में संचार कर सकते हैं, ऐसे योग्य सद्गुरु से मंत्र और नाम ग्रहण करके साधन करने पर जो शुभ लक्षण प्रकाश पाते हैं, वे तुमसे कहते हैं, एकाग्र चित्त होकर सुनो। मन्त्र अथवा नाम साधन करने में यदि कुछ आनन्द अथवा अनुभव न हो, तो साधक साधनपथ पर अग्रसर हो रहा है, इसका प्रमाण क्या ? कुछ भी यदि अनुभव होने लगे, तभी श्री गुरुदत्त साधन मार्ग में श्रद्धा बढ़ती है।

सद्गुरु की कृपा से योग, भक्ति और ज्ञान की आधारभूता मूलाधारस्थित चितिशक्तिस्वरूपिणी श्रीकुण्डलिनी के जागने पर जब नाम अथवा मन्त्र के जप से सत्वगुण की वृद्धि होती है, तब आनन्द, कंप, अश्रुपात, पुलकावलि, गद्गद् होना एवं हँसना, चिल्लाना, नाचना, श्वास का रुकना इत्यादि नाना प्रकार के लक्षण

प्रकट होते हैं। तुमसे अब क्रमशः ये सब लक्षण कहते हैं। श्री भगवान् कहते हैं :-

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज्य उद्गायति नृत्यति च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति।।

अर्थ- भक्ति के प्रभाव से जिनकी वाणी गद्गद् होकर हृदय द्रवीभूत हो जाय, जो बार-बार उच्च शब्द से मुझे बुलावे, कभी चिल्लावे, कभी हँसे, कभी निर्लज्ज होकर नाचे, कभी ऊँचे स्वर से मेरे गुणगान करे, ऐसा जो भक्तिमान् पुरुष है, वह स्वयं पवित्र होकर जगत् को पवित्र करता है। श्रीमद्भागवत् में अन्यत्र यह भी कहा है :-

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या, जातानुरागो द्रुचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवत् नृत्यति लोकबाह्यः।।

अर्थ- अनन्त लीलामय श्रीभगवान् के नामों में जो नाम जिसको प्रिय हो, उसी नाम के कीर्तन को ही जीवन का प्रधान व्रत अथवा सर्वोत्तम उद्देश्य बनाकर नाम-कीर्तन करते-करते जिसके हृदय में अनुराग उत्पन्न होता है, भावपूर्ण होकर जिसका हृदय द्रवीभूत हो जाता है, वह कभी हँसता है, कभी रोने लगता है, कभी उच्चस्वर से चीत्कार करता है, कभी गाता है, कभी प्रभु के प्रेम में मस्त होकर पागल के सदृश नाचने लगता है और कभी वह बाह्यज्ञान-रहित होकर संज्ञाहीन हो जाता है। श्रीमत् रूपगोस्वामी ने भक्ति-रसामृत-सिंधु में भी कहा है-

अनुभवास्तु चित्तस्य भावानामवबोधकाः।
ते बहिर्विक्रिया-प्रायाः प्रोक्ता उद्भास्वरार व्ययाः।।
नृत्यं विलुठितं गीतं क्रोशनं तनुमोटनं।
हुँकारो जृम्भणं श्वासो भूमालोकानपेक्षिता।।

लाला-स्त्रावोऽट्टहासश्च घूर्णा हिक्का द्वयोऽपि च।
ते शीताः क्षेपणश्चेति यथार्थाख्या द्विधोदिताः।।

अर्थ- इस साधन में चित्तस्थ भावों की प्रकाशक निम्नलिखित बाह्यक्रियायें अनुभव में आती हैं— नृत्य, गीत, भूमि पर लोटना, उच्च चिल्लाना, शरीर का ऐंठना, हुंकार , जंभाई आना, दीर्घ श्वास प्रश्वास, संसार की निन्दा या प्रशंसा की उपेक्षा, लार गिरना, अट्टहास, घूर्णा, ठंढ लगना और हाथ पाँवों को फेंकना इत्यादि।

उक्त ग्रन्थ में अन्यत्र लिखा है —

चित्तं सत्त्वीभवत् प्राणेनसत्यात्मानमुद्भटम्।
प्राणस्तु विक्रियां गच्छन् देहं विक्षोभयत्यलम्।।
तदा स्तम्भादयो भावा भक्तदेहे भवन्त्यमी।
ते स्तम्भ-स्वेदरोमाञ्चाः स्वरभेदोऽथ वेपथुः।।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः।।

श्री गुरु-प्रदत्त शक्तिसंपुटित मंत्र या नाम के जप करते-करते चित्त सत्वभावापन्न होकर प्राण में लीन हो जाता है। प्राण जब निष्क्रिय होकर देह को विशेष रूप से क्षुब्ध करते हैं, तब भक्त के देह में स्तंभादि भाव प्रकट होते हैं जैसे स्तंभ (शरीर का जड़वत् होना), पसीना आना, रोमांच होना, स्वर-भेद (कंठ स्वर की नानाविध विकृति), कंप, शरीर के वर्ण का बदल जाना, अश्रुपात होना, निद्रा, मूर्छा, ये आठ प्रकार के सात्विक भावजन्म विकार उत्पन्न होते हैं।

वत्स! श्री गुरु-प्रदत्त शक्तिसंपुटित मंत्र या नाम का जप करते-करते जब प्राण मूलाधार में पृथ्वी तत्व का अवलम्बम लेते हैं, तब स्तंभभाव उत्पन्न होता है, स्वाधिष्ठान में जब तत्व का आश्रय लेते हैं, तब अश्रुपात होता है, नाभिचक्र अथवा मणिपूर में अग्नि

तत्व में स्थित होते हैं, तब पसीना और वर्ण-विकार होता है और विशुद्ध- चक्र में आकाशाश्रित होते हैं तब मूर्छा, तंद्रा अथवा निद्रा होती है, और जब प्राण अनाहतचक्र में वायु में स्थिर होते हैं, तब रोमांच, कंप और स्वर-विक्रिया होती है, इस प्रकार सब भाव प्रकट होते हैं। भक्तिरसामृत सिंधु में कहा है-

स्तंभं भूमिस्थितः प्राणस्तनोत्यश्रु जलाश्रयः।
तंजःस्थः स्वेदवैवर्ण्ये प्रलयं वियदाश्रितः।।
स्वस्थ एव क्रमान्मंदमध्यतीव्रत्वभेदभाग्भवन्।
रोमांचकंपवैवर्ण्यान्यत्र त्रीणि तनोत्यसौ।।

प्राण भूमितत्व में स्थित होने से स्तंभ, जलाश्रित होने से अश्रुपात, अग्नितत्व में स्थित होने पर स्वेद व वर्ण-विकार और आकाश में ठहरने पर लय का भाव उत्पन्न होता है और जब प्राण अपने स्थान वायु में स्थिर होते हैं, तब मन्द, मध्य और तीव्र भेद से रोमांच, कंप और स्वर-विक्रिया, ये तीनों भाव प्रकाश पाते हैं। अन्यत्र यह भी कहा है-

क्षान्तिरव्यर्थ कालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता।
आशाबद्धसमुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचिः।।
आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले।
इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातभावांकुरे जने।।

अर्थ- क्षमा, सहनशीलता, समय का सद्व्यवहार अर्थात् समय को वृथा नष्ट न करना, भगवन्नाम-कीर्तन और श्रवण, भगवान के गुणों का व्याख्यान और भक्ति एवं ज्ञान-शास्त्रों का अध्ययन इत्यादि में समय लगाना, विषयों से विरक्ति, अभिमान शून्यता, भगवान की मिलने की आशा और मन की अत्यन्त उत्कण्ठा अर्थात्

व्याकुलता, उसके नाम लेने में सदा रुचि, उसके गुणगान करने में आसक्ति और जहाँ भगवान का मंदिर हो वहाँ रहने में प्रीति ये सब भाव साधकों में प्रकट होने पर समझना चहिए कि उसमें भक्ति का अंकुर उत्पन्न हो रहा है।

वत्स ! प्रेमावतार श्रीकृष्ण चैतन्य भारती जब काशीधाम में आये, तब उनकी भक्ति और प्रेम के लक्षण जैसे हँसना, रोना, नाचना, गाना इत्यादि देख सुनकर प्रकाशानन्द सरस्वती ने उनसे कहा कि संन्यासी होकर आप नाचते गाते हैं और भावापन्न होकर सबके साथ कीर्तन करते हैं। सन्यासियों का धर्म तो वेदान्त पढ़ना और ध्यान करना है, आप इन्हें छोड़कर क्यों भावुकों के कर्म करते है ? साक्षात् नारायणस्वरूप होकर आप क्यों ऐसे हीन आचार करते हैं ? इसका क्या कारण है ? उसके उत्तर में प्रेमावतार आनंदमूर्ति श्री कृष्णचैतन्य बोले कि हे श्रीपाद, सुनिये, इसका कारण यह है कि मेरे गुरु ने मुझे मूर्ख देखकर यह आज्ञा दी कि तुम मूर्ख हो, इसलिये वेदान्त का तुमको अधिकार नहीं है। कृष्ण का नाम जपो, यही मंत्रों का सार है, कृष्ण-मंत्र से ही संसार-मोचन हो जायेगा और कृष्ण के नाम से कृष्ण-चरणों में प्रीति होगी। कलियुग में नाम के बिना अन्य धर्म नहीं है। सब मंत्रों का सार नाम ही है, यही सब शास्त्रों का मर्म है, ऐसा कहकर मुझको यह श्लोक सिखाया और कहा कि कण्ठ करके इस श्लोक पर विचार किया करो :-

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौनास्त्यैव नास्त्यैव नास्त्यैव गतिरन्यथा।।

बृहद्नारदीय पुराण

हिन्दी अनुवादः-

नाम नाम बस नाम ही केवल हरि का नाम।
कलियुग में अब और नहिं, गति दूसरि बिनु नाम।।

यह आज्ञा पाकर मैं प्रतिक्षण नाम लेता हूँ। नाम लेते-लेते मेरा मन भ्रान्त हो गया है, धैर्य नहीं रहता, उन्मत्त हो गया हूँ-हँसता हूँ, रोता हूँ, नाचता हूँ, जैसे मदिरा पी ली हो। तब धैर्य धरकर मन में विचार किया कि कृष्ण नाम से मेरा ज्ञान ढक गया है, मैं पागल हो गया हूँ और मेरे मन में धैर्य नहीं रहता, ऐसा विचार कर गुरु के चरणों में निवेदन किया कि हे गोस्वामी जी, आपने क्या मंत्र दिया है? इसमें क्या शक्ति है कि जपते-जपते मन्त्र ने मुझको पागल बना दिया है, मुझे हँसाता है, रुलाता है, और क्रन्दन कराता है। यह सुनकर गुरु मुझसे बोले कि कृष्ण-नामरूपी मन्त्र का यही स्वभाव है, जो उसका जप करता है, उसमें तरह-तरह के भाव उत्पन्न होते हैं। कृष्ण में प्रेम होना ही परम पुरुषार्थ है, जिसके सामने चारों पदार्थ तृणतुल्य हैं। पाँचवाँ पुरुषार्थ प्रेमानन्दामृत-सिन्धु है, जिसकी एक बूँद की भी बराबरी मोक्ष का आनन्द नहीं कर सकता। सब शास्त्रों का यही कथन है। कृष्ण-नाम के फल से जो भक्ति उदय होती है, वह तुममें जागी है। प्रेम-भक्ति का स्वभाव यही है कि भक्त हँसता है, रोता है, गाता है, उन्मत्त होकर नाचता है, इधर-उधर दौड़ता है, स्वेद, कंप, गद्‌गदाश्रु , रोमांच, वैवर्ण्य, उन्माद, विषाद, धैर्य, गर्व, हर्ष, दैन्य प्रभृति भावों में भक्त-जनों को भक्ति नचाया करती है और आनन्दामृत-सागर में डुबाये रखती है। अच्छा हुआ जो तुमने परम पुरुषार्थ पा लिया है, मैं भी तुम्हारे प्रेम-भक्ति से कृतार्थ हो गया हूँ। नाचो, गाओ, भक्तों के संग कीर्तन करो और त्रिभुवन को कृष्ण-नाम का उपदेश करके तारो। इन्हीं गुरु के वचनों में मैं दृढ़ विश्वास रखकर निरन्तर कृष्ण-नाम का कीर्तन किया करता हूँ। वही कृष्ण-नाम मुझको कभी नचाता है, कभी गवाता है, मेरी तो अपनी इच्छा नाचने गाने की नहीं। (चैतन्य चरितामृत आदि लीला)।

कुलार्णवतन्त्र में दिया है:-

हृदये ग्रन्थिभेदः स्यात् सर्वावयववर्द्धनम्।
आनंदाश्रूणि पुलको देहावेशः कुलेश्वरि।
गद्‌गदोक्तिश्च सहसा जायते नात्र संशयः।।

अर्थ- हे कुलेश्वरि ! जप के समय हृदय -ग्रन्थि का भेद, सब अवयवों का खिंचना, आनंदाश्रु, रोमांच, देहावेश और गद्‌गद भाव इत्यादि भक्ति के चिन्ह सहसा प्रकाश में आते हैं, इसमें संशय नहीं है। वत्स! श्री लक्ष्मी देवी ने जब श्रीनारायण से भक्ति का लक्षण पूछा तो श्री भगवान ने कहा है :-

मद्‌गुणश्रुतिमात्रेण सानंदः पुलकान्वितः।
सगद्‌गदः साश्रुनेत्रः स्वात्मविस्मृत एव च।।
न वांति सुखं मुक्तिसालोक्यादि-चतुष्टयं।
ब्रह्मतत्त्वममरत्वं वा तद्वाञ्छा मम सेवने।।
इन्द्रत्वञ्च मनुत्वञ्च ब्रह्मत्वञ्च दुर्लभं।
स्वर्गराज्यादि-भोगञ्च स्वप्नेऽपि च न वाञ्छति।।
भ्रमन्ति भारते भक्तास्तादृग्जन्मसुदुर्लभम्।
मद्‌गुणश्रवणाः श्रव्यगानैर्नित्यं मुदान्विताः।।

श्रीमद्‌देवी भागवत स्कंध ९ अध्याय ७

अर्थ- मेरे गुण कीर्तन श्रवण करने से जिनका मन आनन्द विभोर होता हे, सर्वांग पुलकायमान हो उठते हैं कण्ठस्वर रुद्ध हो जाता है, नेत्रों से प्रेमाश्रु टपकने लगते हैं और बाह्यज्ञान तिरोहित हो जाता है, ऐसा व्यक्ति ही मेरा भक्त है। मेरे भक्त न सुख, न सामीप्य, सालोक्य, सारूप्य, सायुज्य, मुक्तिचतुष्टय, न ब्रह्मत्व, न अमरत्व, न और किसी की इच्छा करते हैं, वे केवल मेरी सेवा करने

में तत्पर रहते हैं, अर्थात् मेरी सेवा के सिवाय उनको किसी बात की इच्छा नहीं होती। ऐसे भक्त कभी स्वप्न में भी दुर्लभ इन्द्रपद, मनु का पद, ब्रह्मपद अथवा स्वर्ग के राज्य भोग की इच्छा नहीं करते। मेरे भक्त केवल मेरे ही गुण-कीर्तन-श्रवण में लगे रहते हैं और मेरे ही सुमधुर गुण-कीर्तन में नित्य आनंदित रहते हुए भारतवर्ष में भ्रमण करते रहते हैं परन्तु भारतखण्ड में जन्म पाना और फिर ऐसे भक्त का जन्म होना अति दुर्लभ है।

गुरु भक्तों के दृष्टान्त

गुरु भक्तों में ही गुरुतत्व अथवा आत्म-तत्व प्रकट होता है। पहले जिन गुरु भक्तों के नाम कहे गये हैं, यहाँ पर उनका वर्णन महाभारत और छान्दोग्य उपनिषद् में लिखते हैं। शास्त्र ही हमलोगों के लिये प्रमाण है, इसलिये हम जितने शास्त्रीय प्रमाणों का संग्रह कर सकते हैं, उतनी ही हमारे हृदयों में भक्ति दृढ़ से दृढ़तर होगी। शास्त्रों के प्रमाण द्वारा जिनकी भक्ति दृढ़ नहीं होती, उनकी भक्ति चिरस्थायी नहीं रहती, क्षणस्थायी होती है। शास्त्रों के प्रमाणों द्वारा जिनकी भक्ति दृढ़ है, उनकी ही उत्तम भक्तों में गणना है। देखो! नरम मिट्टी में खूँटी गाड़ना आसान है परन्तु सख्त मिट्टी में खूँटी गाड़ना कठिन है और फिर उसको उखाड़ना भी वैसा ही कठिन है, वैसे ही शास्त्रीय ज्ञानहीन हृदय में भक्ति आती भी जल्दी ही है और जाती भी शीघ्र है, परन्तु शास्त्रों के प्रमाण द्वारा जिनके हृदय में भक्ति एक बार दृढ़ होकर बैठ जाती है, वह किसी प्रकार भी फिर कम नहीं होती वरन् दिन-प्रतिदिन बढ़ती रहती है। हमारे देश में अंध-भक्ति और अंध-विश्वास बताने का एक प्रवाद है। यद्यपि भक्ति अथवा विश्वास कभी अंधे नहीं होते, तथापि इस प्रवाद की तह में कुछ सत्यता है, ऐसा हमारी समझ में आता है। जिन लोगों

को शास्त्रों को अध्ययन-जनित भक्ति या विश्वास नहीं है, अथवा जो स्वाभाविक भक्ति और विश्वास होने पर भी शास्त्रीय प्रमाण द्वारा दृढ़ नहीं हुए हैं, उनकी भक्ति और विश्वास को ही अन्धविश्वास कहा जाता है। जिनको शास्त्र दृष्टि नहीं, वे ही वास्तविक अन्धे हैं, उनका विश्वास भी अन्धा, उनकी भक्ति भी अन्धी। जिनको अंधविश्वास और अंध-भक्ति होती है, उनकी अवस्था ऐसी होती है कि गुरु कर लिया, उन पर खूब विश्वास, खूब भक्ति दिखाने लगे, परन्तु जब किसी ने आकर कहा ओह! तुमने अमुक को गुरु किया है, वह तो कुछ जानता नहीं, उसमें तो अमुक दोष है तभी उसका विश्वास अदृश्य हो जाता है। इसीलिये उनकी भक्ति की दुर्दशा है। ईश्वर के विषय में भी ठीक ऐसा ही है। कोई ईश्वर को शिव के रूप में, कोई शक्ति के रूप में, कोई विष्णु के रूप में, कोई गणेश के रूप में और कोई सूर्य के रूप में पूजने लगता है। किसी ने आकर कहा -'शिव को पूजने से क्या होगा, शक्ति ही सब कुछ है, उसकी पूजा करो'। दूसरा आकर कहता है 'ये सब कुछ नहीं। कृष्ण की पूजा कर, उससे उद्धार होगा, कृष्ण को भजा नहीं, तो कुछ नहीं होगा।' इसी प्रकार हर एक आदमी अपनी-अपनी बात और अपनी-अपनी युक्ति द्वारा शास्त्रीय ज्ञान-विहीन मनुष्य की बुद्धि को नष्ट कर देता है। इसके पश्चात् वह मनुष्य कुछ भी स्थिर नहीं कर पाता कि क्या करना उचित है और क्या करना अनुचित है। उससे जो जैसा कहता है, उसी को मान लेता है और ठीक रास्ते से च्युत हो जाता है। इस प्रकार क्या अनेक जन पथच्युत होकर परधर्म ग्रहण करने को भी तैयार नहीं हो गये? इस युग में ऐसे दृष्टान्तों का अभाव नहीं है, इसीलिये साधन के साथ-साथ शास्त्रों को पढ़ना भी आवश्यक है। जिन्हें संस्कृत का ज्ञान नहीं है उसके लिए अपनी-अपनी मातृभाषा

में मूल ग्रन्थों के अनुवाद हैं, उनको पढ़ना ही यथेष्ट है। अस्तु! यहाँ अब नीचे गुरु-भक्तों के दृष्टान्त दिये जाते हैं।

(१)
आरुणि की कथा

राजा जनमेजय के समय आयोद धौम्य नाम के एक ऋषि रहते थे, उनके पास आरुणि, उपमन्यु और वेद नाम के तीन शिष्य थे। एक दिन गुरूजी ने पांचाल देशीय शिष्य आरुणि को यह आदेश दिया कि हे वत्स आरुणे! तुम खेत में जाकर उसकी मेड़ बाँधो। गुरु-भक्त आरुणि गुरु का आदेश पाते ही वहाँ गया, परन्तु बहुत क्लेश उठाकर भी वह मेड़ बाँधने में समर्थ नहीं हुआ। अन्त में उसने यह उपाय स्थिर किया कि क्यारी की मेड़ जहाँ टूटी थी वहाँ लेट जाना चाहिये, जिससे पानी रुक जायेगा। ऐसा सोचकर उसने अपने शरीर को क्यारी के टूटे बाँध पर सुला दिया और पानी का बहना रुक गया। तदनन्तर गुरूजी ने अपने अन्य शिष्यों से आरुणि के बारे में पूछा कि वह पांचाल-देशीय आरुणि दिखता क्यों नहीं? वह कहाँ गया है? उत्तर में शिष्यों ने कहा 'भगवन्, आप ही ने तो उसे खेत की मेड़ बाँधने भेजा था।' शिष्यों के मुख से यह सुनकर वे बोले, 'चलो जहाँ हमारा बेटा आरुणि गया है, वहाँ ही हम सब चलें।' फिर वे क्यारी के बाँध के पास जाकर ऊँचे स्वर से पुकारने लगे, "हे बेटा आरुणि, तू कहाँ है? आ।" गुरु के वचन सुनकर गुरु-भक्त आरुणि उस क्यारी के बाँध में से सहसा उठकर श्री गुरु के चरणों में उपस्थित हुआ और कहने लगा, 'भगवन्! मैं यहाँ ही था, क्यारी का पानी बाहर निकला जाता था, उसे किसी प्रकार रोक न सका, तो अन्त में स्वयं उस स्थान पर लेटा था। आपकी कृपा से उसका पानी फिर निकलना बन्द हो गया, अब आपका

शब्द सुनकर सहसा क्यारी के टूटे हुए बाँध में से निकलकर आपके चरणों में उपस्थित हूँ, श्रीचरणों में अभिवादन करता हूँ। कृपापूर्वक आज्ञा कीजिये कि अब सेवक के लिए क्या आदेश है।' आरुणि की बात सुनकर श्रीगुरु ने कहा 'बेटा! तुम क्यारी को विदीर्ण करके उठे हो, इससे तुम्हारा आज से उद्दालक नाम प्रसिद्ध होगा, तुमने हमारी आज्ञा का पालन किया है, इसलिये तुम्हारा मंगल होगा और सब वेद और सब धर्मशास्त्र तुम्हारी बुद्धि में प्रकाशमान होंगे।' उसके पश्चात् आरुणि अपने गुरु का आशीर्वाद पाकर अपने देश को लौट गया।

(२)
उपमन्यु की कथा

उसी आयोद धौम्य ऋषि के दूसरे शिष्य का नाम उपमन्यु था। गुरुजी ने उसे एक दिन बुलाकर कहा, 'बेटा उपमन्यो! तुम गौ चरा लाओ।' ऐसी आज्ञा देकर उसको गौओं को चराने भेज दिया और गुरुभक्त उपमन्यु भी गुरु का आदेश पाकर गायें चराने चला गया। प्रत्येक दिन गायें चराकर संध्या के समय गुरुजी के घर आकर गुरुजी के चरणों में उपस्थित होता और चरणों में प्रणाम करता। श्री गुरु ने उपमन्यु को हृष्टपुष्ट देखकर एक दिन पूछा, 'बेटा उपमन्यो! तुम्हारा शरीर बहुत मोटा दिखता है, तुम क्या खाकर जीविका निर्वाह करते हो?' उत्तर में उपमन्यु ने कहा, मैं भिक्षा के अन्न से जीविका का निर्वाह करता हूँ। श्री गुरु बोले 'हमारी आज्ञा के बिना भिक्षा का अन्न नहीं खाना।' श्री गुरु के इस प्रकार आज्ञा करने पर उपमन्यु जो भिक्षा का अन्न लाता वह सब गुरु के सामने समर्पण कर देता। श्री गुरु उस सारे दिन की भिक्षा के अन्न को ले लेते और उपमन्यु को अच्छा यह ठीक है, कहकर फिर गायें

चराने भेज देते। जब इसी तरह सारे दिन गौ चराकर संध्या के समय गुरु के घर जाकर गुरुजी के सामने उपस्थित होकर, चरणों में प्रणाम करता था तो भी गुरुजी ने उपमन्यु को उसी प्रकार बलवान देखकर कहा, 'बेटा उपमन्यु! तुम्हारा सारा भिक्षान्न हम ग्रहण कर लेते हैं, अब तुम क्या खाते हो?' उपमन्यु ने उत्तर दिया, भगवन्! मैं जो कुछ भिक्षा लाता हूँ वह सब आपके समर्पण करके फिर दुबारा भिक्षा ले आता हूँ। उसी से मैं शरीर की रक्षा करता हूँ।' श्री गुरु ने कहा 'बेटा। गुरुकुल में रहने वाले शिष्यों को ऐसा करना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से दूसरे भिक्षार्थी ब्रह्मचारियों को भिक्षा नहीं मिलेगी, और ऐसा करने से तुमने अपने को बड़ा लोभी प्रकट किया है।' उपमन्यु ने कहा, 'अब ऐसा नहीं करूँगा।' फिर उपमन्यु पहिले की तरह गायें चराने लगा और सारे दिन गायें चराकर गुरु के घर आकर पहले की तरह गुरु के सामने खड़ा होकर प्रणाम किया करता था। श्री गुरु ने फिर उसे वैसा ही मोटा ताजा देखकर कहा, 'बेटा उपमन्यो! तुम भिक्षा में जो पाते हो उस सबको हम ले लेते हैं और तुम दूसरी बार भी भिक्षा करने नहीं जाते, तो भी तुम्हारा शरीर वैसा ही हृष्ट-पुष्ट कैसे दिखता है, अब क्या आहार करते हो?'

उपमन्यु ने कहा, 'गुरुदेव! आपकी इन्हीं गायों का दूध पीकर मैं शरीर की रक्षा करता हूँ। 'गुरु ने कहा, 'मैंने तो तुमको इन गायों का दूध पीने की आज्ञा दी नहीं है, हमारी आज्ञा के बिना दूध पीना उचित नहीं है।' गुरु-भक्त उपमन्यु 'ऐसा ही होगा' कहकर गायें चराने चला गया और शाम को गुरु के घर लौटकर उसने श्री गुरु को दण्डवत् साष्टांग प्रणाम किया। फिर गुरु ने पहिले की तरह उसे हृष्ट-पुष्ट देखकर कहा, 'बेटा उपमन्यो! तुम भिक्षा का अन्न खाते नहीं, दुबारा भिक्षा लाते नहीं, और दूध भी नहीं पीते तो भी

तुम्हारा शरीर वैसा ही हृष्ट-पुष्ट है, अब तुम क्या आहार करते हो ?' गुरु के इस प्रकार प्रश्न करने पर उपमन्यु ने उत्तर दिया, 'प्रभो। बछड़े जब थन पीते हैं, तब उनके मुख से जो फेन गिरता है, मैं उसी को खाकर जीवन धारण करता हूँ।' यह सुनकर गुरु बोले, 'गायों के बछड़े तुम्हारे ऊपर दया करके अधिक फेन छोड़ते हैं, तुम उस फेन को खाकर बछड़ों को भूखा रखते हो, इसलिये उसका फेन खाना तुमको उचित नहीं है।' 'ऐसा ही होगा' यह प्रतिज्ञा करके उपमन्यु फिर गायें चराने चला गया। गुरु के निषेध करने पर वह भिक्षा का अन्न नहीं खाता, दुबारा भिक्षा नहीं लाता, दूध भी न पीता और बछड़ों के मुख से गिरा फेन भी नहीं खाता। एक दिन क्षुधा से अत्यन्त व्याकुल होने पर उसने आक (अर्क) के पत्ते खा लिये। क्षार, कटु, तिक्त, रक्ष, तीक्ष्य-विपाक उन आक के पत्तों के खाने से उस गुरु-भक्त उपमन्यु को नेत्रों का रोग हो गया और वह अन्धा हो गया। अन्धा होकर जंगल में भ्रमण करते-करते एक कुएँ में गिर पड़ा। सूर्यदेव अस्त हो गये, तो भी उपमन्यु को घर नहीं लौटा देखकर गुरुजी ने शिष्यों से पूछा, 'उपमन्यु क्यों नहीं आया?' शिष्यों ने कहा, 'जान पड़ता है उपमन्यु गायें चराने वन को चला गया है।' श्री गुरु ने कहा, 'मैंने उपमन्यु का सब आहार बन्द करा दिया है, मालूम होता है, उससे वह क्रुद्ध हो गया है, इसीलिये नहीं आया। अत: बच्चों, उसे ढूँढ़ना चाहिए।' ऐसा कहकर वे शिष्यों को साथ लेकर जंगल को गये और नाम लेकर पुकारने लगे, 'हे बेटा उपमन्यु! तुम कहाँ हो, आओ।' उपमन्यु ने इस प्रकार गुरुजी को बुलाते सुनकर ऊँचे स्वर से कहा, 'गुरुदेव! मैं इस कुँए में गिर पड़ा हूँ।' श्री गुरु ने कहा, 'बेटा तुम कैसे कुँए में गिर पड़े?' श्री गुरु के प्रश्न के उत्तर में उपमन्यु ने कहा, 'गुरुदेव ! भूख से व्याकुल होकर आक के पत्ते खा लेने से मैं अन्धा हो गया और

इसलिए कुएँ में गिर पड़ा।' यह सुनकर श्री गुरु ने कहा 'बेटा! दोनों अश्विनी कुमारों की स्तुति करो, वे देवताओं के चिकित्सक हैं, वे तुमको दृष्टि दे सकेंगे।'

श्री गुरुजी की ऐसी आज्ञा पाकर उपमन्यु ऋग्वेद-विहित मंत्रों से अश्विनी कुमारों की स्तुति करने लगा। गुरु-भक्त उपमन्यु की स्तुति से अश्विनी कुमार प्रसन्न हो उसके सामने प्रकट होकर बोले, "हम तुम्हारी स्तुति से प्रसन्न हुए हैं, हम तुमको यह पिट्ठी देते हैं, इसे खा लो। 'अश्विनी कुमारों के ऐसा कहने पर उपमन्यु ने कहा, 'आप मिथ्या वचन नहीं कहत्ते, परन्तु मैं अपने गुरुदेव को निवेदन किये बिना यह पिट्ठी कभी नहीं खाऊँगा।' तब उसके उत्तर में अश्विनी कुमारों ने कहा, 'उपमन्यु देखो, पहिले तुम्हारे गुरुदेव ने हमारी स्तुति की थी, तब हमने प्रसन्न होकर ऐसी ही पिट्ठी दी थी, परन्तु उन्होंने उसका अपने गुरु को निवेदन नहीं किया था और उसी क्षण खा लिया था। जैसा तुम्हारे गुरु ने किया था, वैसा तुम भी कर सकते हो।' अश्विनी कुमारों की यह बात सुनकर उपमन्यु ने उत्तर दिया, 'हे अश्विनी कुमारों! आपसे विनयपूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि मैं तो श्री गुरु को निवेदन किये बिना कभी इस पिट्ठी को नहीं खाऊंगा'। इस पर अश्विनी कुमारों ने कहा, 'तुम्हारी ऐसी गुरु-भक्ति से हमें अत्यन्त संतोष हुआ है। तुम्हारे गुरु के तो काले लोहमय दन्त हैं, परन्तु तुम्हारे स्वर्णमय दन्त होंगे अर्थात् तुम्हारे गुरु तो अपने शिष्यों के साथ ऐसा निर्दय व्यवहार करते हैं, तुम अपने शिष्यों के साथ ऐसा नहीं करोगे और दयावान रहोगे। बेटा! हम तुमको उत्तम चक्षु प्रदान करते हैं और तुम श्रेय को प्राप्त होगे।'

अश्विनी कुमारों के प्रसन्न होकर ऐसा वरदान देने पर उपमन्यु की आँखें अच्छी हो गयीं और उसने श्रीगुरु के पास जाकर दण्डवत् प्रणाम किया और सब संवाद कह सुनाया। यह सुनकर श्री गुरुदेव

प्रसन्न होकर कहने लगे 'बेटा, अश्विनी कुमारों ने जो कहा है, वैसा ही होगा। तुम श्रेय प्राप्त करोगे और चारों वेद और समस्त शास्त्र तुम्हारी स्मृति में प्रकाशमान रहेंगे।' गुरुभक्त उपमन्यु की परीक्षा समाप्त हुई।

(३)
वेद की कथा

अयोद धौम्य ऋषि के तीसरे शिष्य का नाम वेद था। श्री गुरु ने उसको आज्ञा दी, 'हे बेटा वेद! तुम कुछ दिन हमारे घर में रहकर गुरु-सेवा करो, उससे तुम्हारा मंगल होगा।' वेद 'ऐसा ही होगा' कहकर बहुत दिन तक गुरुकुल में ठहरकर गुरुसेवा में जीवन व्यतीत करने लगा। श्री गुरु नित्य उस पर बैलों के सदृश नाना प्रकार का बोझ ढुलवाते थे, परन्तु गुरु-भक्त वेद शीत, ग्रीष्म, क्षुधा, तृषा सब सहता था और कभी किसी बात में प्रतिकूलता न दिखाकर बहुत काल तक इसी तरह गुरु की सेवा करता रहा। उसके पश्चात् वेद पर गुरु प्रसन्न हुए और वेद को कल्याण और सर्वज्ञता की प्राप्ति हुई। इसके पश्चात् उसने गुरु की आज्ञा लेकर गुरुकुल से समावर्तन करके गृहस्थाश्रम ग्रहण किया। अपने घर में रहते समय वेद ऋषि के तीन शिष्य हुए। शिष्यों को 'यह काम करो और गुरु शुश्रुषा करो' ऐसी कभी आज्ञा नहीं करते थे, क्योंकि उन्होंने गुरुकुल में रहकर बहुत दुःख उठाये थे, इसीलिये शिष्यों को कष्ट देने की उन्हें कभी इच्छा नहीं होती थी।

(४)
उत्तङ्क की कथा

अब वेद के शिष्य गुरु-भक्त उत्तङ्क का वर्णन करते हैं।

किसी समय वेद ने यज्ञ के कार्य के उपलक्ष्य में अन्यत्र जाते समय उत्तङ्क को आज्ञा दी, 'हे उत्तङ्क ! हमारी इच्छा है कि हमारी अनुपस्थिति में घर में जिस किसी बात की आवश्यकता पड़े तो तुम उसकी पूर्ति कर देना।' वेद उत्तङ्क को ऐसी आज्ञा देकर प्रवास को चले गये। गुरु-सेवा-परायण उत्तङ्क गुरु के बताये हुए कार्यों को करता हुआ गुरुकुल में रहने लगा। उसी समय एक दिन गुरुदेव के घर में रहनेवाली स्त्रियों ने एकत्र होकर उत्तङ्क को बुलाकर कहा, 'उत्तङ्क तुम्हारी गुरु-पत्नी ऋतुमती हो गई है, तुम्हारे गुरुदेव घर पर नहीं हैं, विदेश चले गये हैं, इसलिए जिससे ऋतुबंध न हो, वह कार्य तुमको करना होगा, क्योंकि वह अत्यन्त दुःखी हो रही हैं।' उत्तंक ने यह सुनकर उनको उत्तर दिया, 'मैं स्त्रियों की बातों में पड़कर ऐसा दुष्कर्म नहीं करूँगा। गुरुदेव ने मुझको ऐसी आज्ञा नहीं दी कि तू दुष्कर्म भी करना।' कुछ काल के पीछे गुरुदेव विदेश से अपने घर आये और यह सब सुनकर उत्तङ्क के ऊपर अत्यन्त संतुष्ट हुए और बोले, 'बेटा उत्तङ्क! मैं तुम्हारे लिए क्या प्रिय कहूँ? तुमने धर्मानुसार हमारी सेवा की है, अतएव हम गुरु शिष्यों में परस्पर प्रीति बढ़ती रही है। तुमको आज्ञा देता हूँ कि अब तुम अपने घर जाओ, तुम्हारी सब अभिलाषाएँ पूर्ण होंगी।

श्री गुरु के ऐसा कहने पर उत्तङ्क ने कहा, "मैं आपका क्या प्रत्युपकार करूँ ? शास्त्र में लिखा है कि गुरु विद्यादान करके जब तक दक्षिणा ग्रहण नहीं करते हैं और शिष्य धर्मपूर्वक विद्या पढ़कर श्री गुरु को दक्षिणा नहीं देता है, तो दोनों में से एक मर जाता है और परस्पर में द्वेष उत्पन्न हो जाता है, इसीलिये आप आज्ञा करें कि मैं गुरु दक्षिणा संग्रह करने का यत्न करूँ।" तब गुरुजी ने कहा, 'बेटा उत्तङ्क! तो कुछ दिन और हमारे घर में वास करो, तब कहेंगे।' कुछ दिन पीछे उत्तङ्क श्री गुरुदेव से बोला, 'आज्ञा करें कि क्या गुरु-दक्षिणा

देकर आपका संतोष प्राप्त करूँ, जो आप कहें उसका मैं संग्रह करूँगा।' भक्त उत्तंक के इस प्रकार गुरु से प्रार्थना करने पर श्री गुरु ने कहा, 'बेटा उत्तङ्क। तुम बार-बार हमको कहते हो कि क्या दक्षिणा दूँ, इसलिए तुम घर में जाकर अपनी गुरुपत्नी से पूछो कि गुरु दक्षिणा में क्या लाना होगा, वह जो कहे वह ले आना।' गुरुदेव की आज्ञा पाकर उत्तङ्क गुरुपत्नी से पूछने गया, 'हे भगवति। गुरुदेव ने मुझको घर जाने की आज्ञा दे दी है, परन्तु आप जो माँगें, वह गुरुदक्षिणा मैं संग्रह करके गुरु ऋण से मुक्त होकर अपने घर समावर्तन करूँ। इसलिये आप आज्ञा करें कि मुझे-गुरु दक्षिणा के लिये क्या लाना पड़ेगा।' उत्तङ्क की यह प्रार्थना सुनकर गुरुपत्नी बोली 'बेटा उत्तङ्क। पौष्य राजा के पास जाकर उससे उसकी रानी के लिये बनवाये हुए दोनों कुण्डल भिक्षा माँगकर लाओ। आगामी चौथे दिन पुण्यक नामक व्रत के उपलक्ष्य में उत्सव होगा, मैं उस दिन दोनों कुण्डलों को पहनकर अलंकृत और सुशोभित होकर ब्राह्मणों को भोजन परोसने की इच्छा करती हूँ। अतएव तुम कार्य पूरा करो, ऐसा करने से तुम्हारा मंगल होगा, ऐसा नहीं करोगे तो तुम्हारा किसी प्रकार मंगल नहीं होगा।'

गुरु-पत्नी की आज्ञा पाकर उत्तङ्क उन कुण्डलों को लेने के लिये चल दिया। जाते-जाते रास्ते में देखा कि एक बड़े आकार वाला पुरुष एक बड़े वृषभ पर बैठा हुआ जा रहा है। उसने उत्तङ्क को देखकर कहा, 'हे उत्तङ्क, इस बैल का यह गोबर खाले।' परन्तु उत्तङ्क ने खाने से इनकार कर दिया। उस पुरुष ने फिर कहा, 'उत्तङ्क! इसे खा ले, इसे खाने में टाल-मटोल मत कर, विचार मत कर, पहले तेरे गुरु ने खाया था।' यह सुनकर उत्तङ्क सहमत हो गया और वृषभ का मूत्र और गोबर खाकर चल पड़ा, फिर भ्रम से रास्ते में चलते-चलते उसने आचमन करके प्रस्थान किया और तदन्तर पौष्य

नामक क्षत्रिय राजा के पास पहुँचकर देखा कि वह अपने आसन पर बैठा है। उत्तङ्क ने राजा को आशीर्वाद देकर कहा, 'राजन्! मैं कुछ भिक्षा माँगने आपके पास आया हूँ।' राजा ने उसका उचित अभिवादन करके कहा, 'भगवान! में आपका दास पौष्य हूँ, जो चाहिये आज्ञा कीजिये।' उत्तङ्क ने कहा, "मैं गुरु दक्षिणा में देने के लिये आपकी धर्मपत्नी जो दोनों कुण्डल पहने हैं, उनकी भिक्षा माँगने आया हूँ, आप उनका दान कीजिये।"

राजा पौष्य ने उसी समय कहा, "अन्त:पुर में जाकर हमारी पत्नी से याचना करो।" उत्तङ्क राजा के कथनानुसार अन्त:पुर में चला गया और राजा की पत्नी को न देख पाने के कारण पौष्य राजा के पास फिर आकर उसने कहा, 'महाराज। मुझसे ऐसी मिथ्या बंचना करना आपको उचित नहीं, अन्त:पुर में आपकी धर्मपत्नी नहीं हैं, यदि होतीं तो अवश्य मुझे दिखतीं।' यह सुनकर पौष्य कुछ क्षण विचार करके बोला, 'भगवन्। स्मरण करके देखो, अवश्य आपका मुख उच्छिष्ठ होगा। उच्छिष्ठ अथवा अपवित्र मनुष्य को हमारी पत्नी नहीं दीख पड़तीं, वह पतिव्रत परायण हैं, इसलिये वह अशुचि मनुष्य को दृष्टिगोचर नहीं होतीं। ' राजा की यह बात सुनकर उत्तङ्क ने स्मरण करके कहा, 'हाँ, आते समय सहसा चलते-चलते खड़े होकर ही आचमन कर लिया था।' तब पौष्य ने कहा, 'आपको व्यतिक्रम हुआ है, क्योंकि खड़े होकर या चलते-चलते आचमन करना शास्त्र संगत नहीं है।' आपने यथार्थ कहा, ऐसा कहकर उत्तङ्क ने पूर्वमुख होकर उपवेशन करके हाथ, पैर और मुख धोकर मौन होकर तीन बार फेन रहित हृदय पर्यन्त जाने योग्य पानी पीकर, दो बार होठ धोकर और विहित इन्द्रियों का स्पर्श पूर्वक आचमन करके अन्त:पुर में प्रवेश किया और तब वहाँ ही पौष्य की पत्नी को देखा। पौष्य की पत्नी ने उत्तङ्क को देखकर गोत्रोत्थान पूर्वक

यथाविहित नमस्कार और स्वागत करके जिज्ञासापूर्वक कहा, "भगवन्। आज्ञा करें, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?" उसके उत्तर में उत्तङ्क ने कहा, 'गुरु-दक्षिणा के लिये मैं आपके कानों को शोभित करने वाले दोनों कुण्डलों की भिक्षा चाहता हूँ, मुझको आप उनका दान करें।' उत्तङ्क की ऐसी गुरुभक्ति देखकर पौष्य पत्नी बड़ी प्रसन्न हुई और यह वास्तविक सत्पात्र है, इसकी प्रार्थना भंग नहीं करनी चाहिये, ऐसा निश्चय करके अपने दोनों कानों के कुण्डल गुरुभक्त उत्तङ्क को प्रदान कर दिये और कहा "नागराज तक्षक ने किसी समय इन दोनों कुण्डलों के लिए मुझसे प्रार्थना की थी, परन्तु मैंने उसकी प्रार्थना पूर्ण नहीं की, इसलिये आप इनको बड़ी सावधानी से ले जाइए।" यह सुनकर उत्तङ्क ने कहा, "भगवति! इस विषय में आप किसी बात की चिन्ता न करें, तक्षक मेरे पास से इन कुण्डलों को लेने में बिल्कुल भी समर्थ नहीं हो सकता।" इस प्रकार पौष्य की पत्नी को आश्वासन देकर उत्तङ्क राजा पौष्य के पास आया और कहा 'हे प्रभो! मुझे परम संतोष हुआ है।' पौष्य ने कहा "भगवन्! सदा सत्पात्र तो मिलते नहीं, आप सर्वगुण संपन्न अतिथि भाग्यवश हमारे घर आये हैं, इसलिये मैं श्राद्ध करने की इच्छा करता हूँ, आप एक क्षण दयापूर्वक और ठहरें।" उसके उत्तर में उत्तंक ने कहा, "मैं प्रतीक्षा करता हूँ, जो अन्न उपस्थित हो, वह आप शीघ्र ले आवें।" पौष्य ने यह स्वीकार करके जो अन्न था, लाकर उसको भोजन कराया। उत्तङ्क ने ठंडा और बाल पड़ा हुआ अन्न देखकर अपवित्र समझ पौष्य से कहा, "तुमने हमको अपवित्र अन्न दिया है, इसलिये तुम अंधे हो जाओगे।" पौष्य ने कहा, "तुमने दोषरहित अन्न में वृथा दोषारोपण किया है, इसीलिये तुम सन्तानरहित रहोगे।" उत्तङ्क ने उत्तर दिया, "अपवित्र अन्न देकर उल्टा शाप देना उचित नहीं, यह अन्न अपवित्र है या नहीं, यह आप स्वयं प्रत्यक्ष देख लें।" ऐसा

सुनकर पौष्य ने उस अन्न को देखकर उसमें अपवित्रता पाई। तदन्तर वह अन्न केश खोले हुए स्त्री द्वारा लाया हुआ ठंडा और बाल पड़ा हुआ जानकर राजा को उसकी अपवित्रता में कुछ संदेह नहीं रहा। तब पौष्य राजा सोचने लगा कि उत्तङ्क ऋषि कैसे प्रसन्न हों और विनयपूर्वक कहने लगा, "भगवन्! बेजाने ऐसा शीतल और बालयुक्त अन्न ले आया, अब आप दया करके हमको क्षमा करें, जिससे कि मैं अंधा न होऊँ।" उत्तङ्क ने कहा, "पौष्य! मैं सत्य-संकल्प हूँ, मेरा कहा कभी मिथ्या नहीं हो सकता, इसलिये मैं कहता हूँ कि आप अंधे होकर शीघ्र आँखों वाले हो जायँ। आपने मुझे जो शाप दिया है, वह मुझे न होवे।" पौष्य ने कहा "मैं शाप वापस लेने में समर्थ नहीं हूँ, क्योंकि अभी तक मेरा क्रोध शान्त नहीं हुआ है। आप क्या नहीं जानते कि ब्राह्मण का हृदय नवनीत के सदृश कोमल जल्दी ही पिघल जाता है और उनके वचन तीक्ष्ण धारवाले उस्तरे के सदृश होते हैं, परन्तु क्षत्रिय के ये दोनों विपरीत होते हैं, अर्थात् क्षत्रियों के वचन नवनीत के तुल्य कोमल और तीक्ष्ण धार वाले उस्तरे जैसा होता है यह जाति-सिद्ध तीक्ष्ण-हृदयतायुक्त शाप अन्यथा नहीं हो सकता। आप जाइये।" पौष्य की यह बात सुनकर उत्तङ्क ने कहा, "आपने अन्न की अपवित्रता प्रत्यक्ष देखकर विनयपूर्वक क्षमा की प्रार्थना की और कहा कि दोषरहित अन्न में अपवित्रता का दोष लगाते हो, इसलिये निःसन्तान होवोगे। अब जब अन्न में दोष प्रत्यक्ष देखा है, तब आपका दिया शाप हमको लगेगा नहीं, लो मैं जाता हूँ।" ऐसा कहकर उत्तङ्क दोनों कुण्डल लेकर चल पड़ा। उत्तंक ने जाते-जाते रास्ते में देखा कि एक नग्न सन्यासी जो कभी दीख पड़ता है और कभी अदृश्य हो जाता है, सामने से आ रहा है। उसके पीछे उत्तङ्क उन दोनों कुण्डलों को पृथ्वी पर रखकर लघुशंका करने लगा। उसी समय वह सन्यासी दौड़ता हुआ आकर दोनों कुण्डलों

को हाथ में उठाकर भाग गया। उत्तंक लघुशंका से निवृत्त होकर पवित्र होकर, मन को एकाग्र करके ईश्वर और गुरु को नमस्कार करता हुआ बड़े वेग से सन्यासी के पीछे दौड़ने लगा। जब उसके बहुत निकट पहुँचा तब उसे पकड़ लिया। सन्यासी-वेशधारी तक्षक अपना बनावटी वेश त्यागकर अपना असली तक्षक का रूप धारण करके तत्क्षण उसी स्थान में एक बड़े बिल द्वारा पृथ्वी के अंदर घुस गया और फिर वहाँ से नाग-लोक में जाकर अपने भवन में चला गया।

उत्तङ्क राजा पौष्य की रानी के वचन स्मरण करके तक्षक के पीछे-पीछे जाने के लिए लकड़ी के डंडे से उस बिल को खोदने लगा परन्तु किसी प्रकार उसमें सफल न हो सका। तब देवराज इन्द्र ने, उत्तङ्क के कष्ट को देखकर अपने वज्र को यह आज्ञा देकर वहाँ भेजा कि 'वज्र! जाओ उस ब्राह्मण की सहायता करो।' इन्द्र की आज्ञा पाकर वज्र ने उस लकड़ी के डंडे के अग्र भाग में प्रवेश करके बिल को विदीर्ण कर दिया। फिर उत्तङ्क ने उस बिल के रास्ते से घुसकर नागलोक में जाकर नाना प्रकार के महल, हवेलियाँ, घर और द्वार इत्यादि अनेक आश्चर्यमय क्रीड़ा-स्थान देखे और फिर वह नागों की स्तुति करने लगा। सर्वश्रेष्ठ नागों की अनेक स्तुति करने पर भी कुण्डल न मिलने पर ब्रह्मर्षि उत्तङ्क बड़ा चिन्तित हुआ। उस समय उसने एक पुरुष को और एक सुन्दर घोड़े को देखा। उत्तंक ने उनको देखकर कहा, "हे महात्मन्! काले कपड़े पहने, वज्र धारण किये हुए जो नमुचि और वृत्रासुर का वध करने वाले हैं, जो त्रिभुवन की रक्षा करते हैं, यह वैश्वानर तुल्य, सिंधु से उत्पन्न तेजस्वी घोड़ा जिसका वाहन है, उन्हीं त्रिलोकीनाथ विश्वपति पुरेन्द्र को नमस्कार करता हूँ।" गुरुभक्त उत्तङ्क की स्तुति सुनकर वह पुरुष बोला, "हे उत्तङ्क! तुम्हारी स्तुति से मैं प्रसन्न हूँ,

तुम्हारा जो प्रिय कार्य करना हो वह कहो।" उसके उत्तर में उत्तंक ने कहा, 'सब सर्प मेरे वश में हो जायें।' उस पुरुष ने फिर कहा, "हे उत्तङ्क! इस घोड़े की गुदा में फूँक मारो।" उस पुरुष के कहने के अनुसार ब्रह्मर्षि उत्तङ्क के अश्व की गुदा में फूँक मारने पर घोड़े के शरीर के सब छिद्रों से धुऐं सहित अग्नि की ज्वाला निकलने लगी और उस अग्नि की ज्वाला से नागलोक तपने लगा, तब कुण्डलों का चोर तक्षक अग्नि के भय से डरकर और घबराकर दोनों कुण्डलों को लिये घर से हठात् बाहर आकर गुरुभक्त उत्तङ्क से कहने लगा, "ये लीजिये अपने दोनों कुण्डल।" उत्तंक दोनों कुण्डल लेकर सोचने लगा आज ही गुरु पत्नी के पुण्यक व्रत का दिन है, मैं बहुत दूर आ गया हूँ, किस तरह समय पर वहाँ पहुँचकर यह कार्य पूरा कर सकूँगा। उत्तङ्क इस प्रकार चिन्ता कर रहा था कि उसी समय उस पुरुष ने उससे कहा, "उत्तङ्क! इस घोड़े पर बैठो, यह एक क्षण में ही गुरु के घर तुमको पहुँचा देगा।" उत्तङ्क 'ऐसा ही हो' कहकर उस घोड़े की पीठ पर चढ़कर एक क्षण में ही श्री गुरु के घर लौट आया। जिस समय गुरु-पत्नी ने, स्नानादि करके उपवेशन पूर्वक केशों को सँवारते-सँवारते यह विचार कर कि अभी तक तो उत्तङ्क आया नहीं, शाप देने का संकल्प किया, उसी समय ब्रह्मर्षि उत्तङ्क ने गुरु-गृह में प्रवेश किया और श्री गुरुपत्नी को नमस्कारपूर्वक दोनों कुण्डल भेंट किये।

गुरुपत्नी ने उत्तङ्क से कहा, "बेटा उत्तङ्क! तुम्हारा मंगल हो, तुम बड़े अच्छे समय पर आ गये हो, सौभाग्य से मैंने तुमको बिना दोष के शाप नहीं दिया, इस समय तुम्हारा श्रेय उपस्थित है, तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण होगी।" तदन्तर उत्तङ्क ने श्रीगुरु को साष्टांग प्रणाम किया। गुरु ने कुशल-मंगल पूछकर कहा, "बेटा उत्तङ्क! तुम्हें इतना विलंब क्यों हुआ?" उसके उत्तर में उत्तङ्क ने कहा, "नागराज तक्षक मेरे दोनों कुण्डल ले गया था, इसीलिये विघ्न हो गया था। अतः

मैं नागलोक में गया। हे गुरुदेव! वहाँ देखा कि दो स्त्रियाँ कपड़ा बुन रही हैं, जिसका सारा सूत काला और श्वेत है। वह क्या था? और यह भी देखा कि छः लड़के १२ तीलियों के एक चक्र को घुमा रहे हैं। वे कौन थे? एक पुरुष को देखा, वह भी कौन था? और एक बड़ा घोड़ा देखा, वह क्या था? पौष्य राजा के घर जाते समय रास्ते में एक पुरुष देखा, वह अनुरोधपूर्वक मुझसे कहने लगा, 'हे उत्तङ्क! तू इस वृषभ का गोबर खा ले, पहले तेरे गुरु ने भी खाया है।' उसकी यह बात सुनकर मैंने भी वृषभ का गोबर खा लिया। जिसने मुझसे गोबर खाने को कहा, वह कौन था? मैं आपके श्रीमुख से यह सब सविशेष जानने की इच्छा करता हूँ।" उत्तङ्क ने जो पूछा उसके उत्तर में श्रीगुरु ने कहा, "बेटा! तूने जो दो स्त्रियाँ देखी थीं, वे धाता-विधाता थीं। जो श्वेत और काले धागे देखे थे, वे दिन और रात्रि हैं और जो चक्र देखा था, वह संवत्सर है और जो छः कुमार १२ तीलियों के चक्र को घुमा रहे थे, वे छः ऋतु हैं, और जिस पुरुष के दर्शन किये वे देवताओं के राजा इन्द्र हैं और घोड़ा, अग्नि और जो गोबर खाया, वह अमृत था। बेटा! तुम उस अमृत को खाकर ही नागलोक में भी जाकर नहीं मरे। वे इन्द्र भगवान मेरे मित्र हैं, उन्हीं ने तुम्हारे जैसे गुरु-भक्त का क्लेश देखकर दयावान होकर इस प्रकार अनुग्रह किया है और एकमात्र उसी से तुम दोनों कुण्डल लेकर लौटने में समर्थ हुए हो। इसीलिये हे सुशील! मैं अत्यन्त प्रसन्न होकर तुमको अनुमति देता हूँ कि अपने घर जाओ और श्रेय प्राप्त करो।' श्रेय शब्द का अर्थ परम-मंगल-स्वरूप मोक्ष समझना चाहिये।

(५)
सत्यकाम जाबाल की कथा

जाबाल के पुत्र सत्यकाम ने एकमात्र गुरु-भक्ति के द्वारा ही

ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया था, इस उपाख्यान का छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णन है, वह हम अब कहते हैं।

जाबाल नाम की एक अत्यन्त सदाचार-संपन्ना ब्राह्मणी थी। उसका सत्यकाम नामक एक पुत्र था। जब सत्यकाम का विद्याध्ययन का वश्य हुआ, तब एक दिन गुरु के घर जाने की इच्छा उसने अपनी माता से प्रकट की और कहा, "हे माँ! मैं ब्रह्मचर्य पालन करके गुरुगृह में रहकर गुरु सेवा करने की इच्छा करता हूँ। यदि गुरु ने मेरा नाम और गोत्र पूछा तब मैं क्या उत्तर दूँ? नाम तो जानता हूँ, परन्तु माँ! मेरा गोत्र क्या है, यह तो ज्ञात नहीं, इसलिये मेरा क्या गोत्र है, सो बता दे।" तब जाबाल ने कहा, "बेटा! तुम्हारा गोत्र क्या है, यह तो मैं भी नहीं जानती। बेटा! मैंने युवावस्था में तुझको पाया था, अर्थात् तुझको जन्म दिया था। उस समय हमारे घर बहुत अतिथि, अभ्यागत आया जाया करते थे, उनकी सेवा-परिचर्या करना और उनकी सेवा का भार मेरे ऊपर था। मुझे अधिक समय नहीं मिलता था, इसलिये तुम्हारे पिता से तुम्हारा गोत्र पूछ न सकी, इसीलिये मैं नहीं जानती कि तेरा क्या गोत्र है। मैं तो यही जानती हूँ कि मेरा नाम जाबाल है और तेरा नाम सत्यकाम है। बेटा गुरु के घर जाने पर तुम्हारा गुरु यदि तुमसे गोत्र पूछे, तो कहना कि मै जाबाल का पुत्र हूँ और मेरा नाम सत्यकाम है।" माता की आज्ञा पाकर सत्यकाम ने महर्षि हरिद्रुम के पुत्र गौतम ऋषि के पास जाकर कहा, 'हे भगवन्! मैं ब्रह्मचर्य-पालन पूर्वक वेदादि का अध्ययन करूँगा और आपकी सेवा करूँगा, आप मुझे शिष्य स्वीकार करें।' तब गौतम ऋषि बड़े प्रेम पूर्वक बोले, 'हे सौम्य! तुम्हारा गोत्र क्या है ?' सरल भाव से परिपूर्ण बालक सत्यकाम ने सविनय कहा, "भगवन्! मेरा गोत्र क्या है, मैं नहीं जानता। अपनी माता से पूछने पर माता ने मुझसे कहा। 'यौवन काल में मैंने तुमको

पाया है, तब मेरे घर बहुत अतिथि-अभ्यागत आया-जाया करते थे और मैं उनकी सेवा में लगी रहती थी इसलिये तेरे पिता से तेरा गोत्र पूछने पर समय नहीं मिला और यौवन काल में ही तेरे पिता का वियोग हो गया। मैं केवल इतना ही जानती हूँ कि मेरा नाम जाबाल है और तेरा नाम सत्यकाम है।' हे देव ! मैं उसी जाबाल का पुत्र सत्यकाम हूँ।" सत्यवादी और सरल हृदय सत्यकाम की सरलता-पूर्ण सत्य बात को सुनकर गौतम ऋषि अत्यन्त प्रसन्न होकर कहने लगे, "बेटा सत्यकाम! मैंने जान लिया तुम निश्चय ही ब्राह्मण हो, क्योंकि ब्राह्मण के सिवाय ऐसी सरलता-पूर्ण सत्य बात दूसरा कोई नहीं कह सकता, 'नैतद्ब्राह्मणविवक्तुमर्हति'। जाओ पुत्र तुम समिधा संग्रह करके ले आओ, मैं तुम्हारा उपनयन संस्कार कराऊँगा और तुमको उपनयन दूँगा।" ऐसा कहकर गौतम ऋषि ने सत्यकाम का विधिवत उपनयन संस्कार किया और दुबली-पतली दुर्बल ४०० गायें देकर कहा, "बेटा जब तक ये ४०० गायें पूरी एक हजार न हों, तब तक तुम इनको वन में ले जाकर चराओ और एक हजार होने पर घर लौटो।" सत्यकाम ने उन गायों को लेकर जाते समय कहा, 'भगवन्! जब तक एक हजार गायें पूरी नहीं होगी, तब तक मैं लौटकर घर नहीं आऊँगा।"

जब तक वे चार सौ गायें संख्या में एक हजार नहीं हुई, तब तक सत्यकाम को प्रवास में रहना पड़ा। इस प्रकार वन में घूमते-घूमते जब वे गायें एक हजार हो गयीं तब एक दिन दिशाओं का अधिपति वायु सत्यकाम की गुरुनिष्ठा से संतुष्ट होकर सत्यकाम को ब्रह्मविद्या का उपदेश करने के लिये एक वृषभ के देह में प्रवेश करके बोला, "हे सत्यकाम।" तब सत्यकाम ने उत्तर में कहा "भगवन्! क्या आज्ञा है? कहिए।" तत्पश्चात् उसने कहा, 'हे सौम्य! देखो हमारी संख्या अब एक हजार पूरी हो गई है, अब तुम हमको

गुरु के घर ले चलो। तुम्हारी गुरु-सेवा से मैं संतुष्ट हूँ, इसलिये मैं तुमको चतुष्पाद ब्रह्म के पद की कला या अंश यह पूर्व दिशा है, ऐसी ही पश्चिम, दक्षिण और उत्तर तीनों दिशायें भी उस पाद की तीन कलायें है, इस प्रकार चारों कलाएँ या अंश मिलकर ब्रह्म का एक पाद होता है, ब्रह्म के इस एक पाद को प्रकाशमान-संज्ञक पाद कहते हैं। अग्नि तुमको दूसरे पाद का उपदेश करेंगे।'

ऐसा कहकर वृषभ चुप हो गया। दूसरे दिन प्रभात होने पर नित्यकर्म करके सत्यकाम एक हजार गायों को लेकर गुरु के घर के लिये रवाना हो गया। धीरे-धीरे चलते-चलते जिस समय जिस स्थान पर संध्या हो गयी, उसी समय उसी स्थान पर अग्नि की स्थापना करके उन एक हजार गायों को बांधकर लकड़ी संग्रह करके पूर्वाभिमुख होकर अग्नि के पश्चिम ओर बैठकर वृषभ देहधारी वायु देवता की बात स्मरण करने लगा। तब अग्नि ने पुकारा, 'सत्यकाम!' तब सत्यकाम ने उत्तर दिया, 'भगवन्।' अग्नि ने कहा, 'वत्स। मैं तुमको ब्रह्म के एक पाद का उपदेश करता हूँ।' सत्यकाम ने कहा, 'भगवन् मुझे अवश्य उपदेश करें।' अग्निदेव ने सत्यकाम से कहा, "पृथ्वी एक कला, अन्तरिक्ष एक कला, द्युलोक एक कला और समुद्र एक कला, ये चारों कलायें मिलकर ब्रह्म का अनन्त नामक दूसरा पाद है। हंसस्वरूप आदित्य आविर्भूत होकर तुमको ब्रह्म के तीसरे पाद का उपदेश करेंगे।" इतना कहकर अग्निदेव चुप हो गये। उसके अगले दिन, अर्थात् तीसरे दिन सत्यकाम रात्रि बीतने पर प्रभात में नित्य कर्मादि से निवृत्त होकर गायों को लेकर फिर गुरु-गृह की ओर चल पड़ा और जिस स्थान पर संध्या हुई, उसी स्थान पर अग्निस्थापन करके यथास्थान गायों को बाँधकर समिधा एकत्रित करके और फिर पूर्वाभिमुख होकर अग्नि की पश्चिम ओर बैठ गया, तब हंस ने उसके पास आकर कहा, "हे सत्यकाम!" सत्यकाम ने उत्तर में कहा, "भगवन्!" तब हंस कहने लगा, "हे सौम्य, मैं तुमको ब्रह्म के तीसरे पाद का उपदेश करना चाहता हूँ।" सत्यकाम ने कहा, "भगवन् आप मुझको उसका उपदेश करें।" हंस ने कहा, 'अग्नि एक कला, सूर्य एक कला, चन्द्र एक कला और विद्युत् एक कला, ये चारों कलायें ब्रह्म का ज्योतिष्मान्-पाद-नामक तृतीय पाद हैं। मद्गु (एक प्रकार का जलचर पक्षी) तुमको ब्रह्म के चौथे पाद का उपदेश करेगा।' ऐसा कहकर हंस चला गया।

उसके अगले दिन अर्थात् चौथे दिन प्रभात होने पर नित्य कर्मादि पूर्ववत् करके गायों को लेकर सत्यकाम गुरु-गृह के लिये चल दिया और जिस स्थान पर संध्या हुई, उसी स्थान पर अग्नि प्रज्वलित करके यथास्थान पर गायों को रखकर समिधा लाया और पूर्वाभिमुख होकर अग्नि के पश्चिम की ओर बैठ गया। तब प्राण देवता मद्गु-रूप धारण कर उसके समीप आकर कहने लगे, 'सत्यकाम्।' सत्यकाम ने उत्तर दिया, 'भगवन्'। मद्गु ने कहा 'हे वत्स! हम तुमको ब्रह्म के चतुर्थ पाद का उपदेश करते हैं।' सत्यकाम ने उत्तर में कहा, 'भगवन्! मुझको उसका उपदेश करें।' मद्गु के रूप में आविर्भूत प्राण-देवता ने सत्यकाम से कहा, "प्राण एक कला, चक्षु एक कला, श्रोत्र एक कला और मन एक कला है। ये चारों कलायें ब्रह्म का आयतवन-नामक चौथा पाद है।" सत्यकाम इस प्रकार श्रीगुरु के घर लौटते समय मार्ग में गुरु की भक्ति के बल पर ब्रह्म की चारों कलाओं सहित चारों पादों को चार देवताओं के उपदेश से जानकर ज्ञान प्राप्त करके गुरु के घर पर उपस्थित हुआ। आचार्य गौतम ने उससे कहा, 'सत्यकाम!' सत्यकाम ने उत्तर दिया, 'भगवन्!' तब श्री गुरु ने कहा "हे सौम्य! तुम्हारा प्रसन्न और हास्ययुक्त मुख और चिन्तारहित अवस्था देखकर तुम ठीक ब्रह्मवित् के सदृश दीख पड़ते हो! बताओ तो वत्स। यह ब्रह्मोपदेश किसने किया है?" तब सत्यकाम ने उत्तर दिया, "भगवन्! मनुष्य से भिन्न

चार देवताओं ने मुझको ब्रह्म के चार पादों का उपदेश किया है।" यहाँ मनुष्य से भिन्न कहने का तात्पर्य यह है कि गौतम ऋषि के सदृश व्यक्ति के शिष्य को दूसरा कौन मनुष्य उपदेश करने में समर्थ हो सकता है, अर्थात् गौतम ऋषि का शिष्य होकर दूसरे मनुष्यों के पास सत्यकाम उपदेश लेने नहीं गया, इसीलिये सत्यकाम से कहा, 'मनुष्य से भिन्न' इत्यादि। वास्तव में जिसे भाग्य से सद्गुरु मिल गये हैं और उस गुरु में जिसकी श्रद्धा भक्ति है, वह कभी दूसरे के पास ज्ञानोपदेशार्थ प्रार्थना नहीं करेगा, परन्तु यहाँ तो सत्यकाम की गुरु-निष्ठा देखकर देवता भी प्रसन्न होकर स्वतः ही उसे उपदेश करने आये थे।

तदन्तर सत्यकाम ने कहा, "भगवन्! यद्यपि मैंने किसी मनुष्य से यह उपदेश नहीं पाया है, देवताओं ने कृपा-पूर्वक मुझे उपदेश किया है, तथापि मेरी यह इच्छा है कि आप मुझको फिर उसी ब्रह्मज्ञान का उपदेश करके कृतार्थ करें, क्योंकि मैंने आप जैसे ऋषियों से सुना है कि श्रीगुरु से जो विद्या प्राप्त की जाती है, वही विद्या अतिशय फलप्रद होती है।" श्रीगुरु गौतम ने सत्यकाम की भक्ति से संतुष्ट होकर उसी ब्रह्म विद्या का, जो सत्यकाम को देवताओं से प्राप्त हुई थी, फिर एक बार उपदेश किया। गौतम ऋषि ने कोई रहस्य छुपाकर नहीं रखा। देवताओं ने जैसे ब्रह्म की १६ कलाओं का उपदेश किया था, उन्होंने भी सब कलाओं का उसे पूरा-पूरा उपदेश किया और श्रीगुरु गौतम की कृपा से सत्यकाम का ज्ञान पूर्ण हो गया।

धन्य सत्यकाम की गुरु-भक्ति! ऐसा गुरु-भक्ति-परायण और सेवा-परायण शिष्य ही वास्तविक तत्वज्ञान का अधिकारी होता है और ऐसे ही भक्त शिष्यों को तत्व प्रकाशित होता है, इसीलिए श्रुति माता कहती हैं :-

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।

(६)

तोटकाचार्य की कथा

गिरि नाम का एक ब्राह्मण का लड़का, जो सन्यास लेने के पश्चात् तोटकाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ, मूर्ख होने पर भी एकमात्र श्री गुरु-सेवा द्वारा श्रीगुरु की कृपा से किस प्रकार विद्या प्राप्त करके ज्ञानी हुआ, वही श्रीयुत् राजेन्द्रनाथ घोषकृत 'आचार्य शंकर और रामानुज' नामक पुस्तक से उद्धृत करके यहाँ देते हैं।

एक समय गिरि नामक एक ब्राह्मण के लड़के ने आकर आचार्य की शरण ग्रहण की। गिरि बिल्कुल निरक्षर था और उसकी यथार्थ साधु बनने की इच्छा थी। वह आचार्य और उनके शिष्यों के विद्यानुराग और शास्त्रीय वार्तालाप को सुन हताश होकर आचार्य की सेवा में प्रवृत्त हो गया। गुरु की सेवा ही सब विद्याओं का मूल है, यह जानकर उसने सेवा का ही एकमात्र अवलंबन ले लिया। स्वभाव का गिरि बड़ा मीठा बोलने वाला, विनीत, आलस्य-रहित और सबका कार्य करने में तत्पर रहता था। वह सबका संतोष प्राप्त करने का यत्न करता रहता था और सदा आचार्य के संग रहता था। गिरि के कारण दूसरे शिष्य किसी प्रकार आचार्य की सेवा करने का अवकाश नहीं पा सकते थे। आचार्य जब शिष्यों को पढ़ाते थे अथवा उपदेश करते थे, गिरि तब हाथ जोड़कर खड़ा रहता था। परन्तु कुछ समझ में न आने पर भी गिरि यह प्रकट नहीं होने देता था कि मेरा मन नहीं लगता। एक दिन आचार्य पढ़ाने के निमित्त बैठे, प्रणामादि समापन हो जाने पर भी बैठे रहे, इधर-उधर देखकर

भी पाठ आरंभ न किया। सब शिष्य यह देखकर विस्मयपूर्वक देखने लगे। पद्मपाद नामक शिष्य का उद्वेग कुछ अधिक बढ़ा, उसने कहा, "भगवन्! आपने पाठ क्यों बंद कर दिया? किसकी प्रतीक्षा कर रहे है'?"

आचार्य ने कहा, "क्या तुम सब लोग आ गये हो? गिरि तो दिखाई नहीं पड़ता। उसे आने दो।" इसी प्रकार और भी कुछ समय बीत गया, गिरि आया नहीं। अन्त में एक शिष्य ने कहा, "भगवन्! गिरि नदी पर आपके वस्त्र धो रहा है।" कुछ भी हो आचार्य की इच्छानुसार सभी गिरि के लिये प्रतीक्षा करने लगे। पद्मपाद ने सोचा कि गुरुदेव गिरि के लिये क्यों प्रतीक्षा कर रहे हैं, वह तो सर्वथा निरक्षर है, कुछ भी तो नहीं समझ सकता। पद्मपाद का उद्वेग इतनी ही देर में विस्मय में बदल गया। उसने कौतूहल से कहा, "भगवन् गिरि तो बिलकुल निरक्षर है, क्या वह आपका उपदेश समझने में समर्थ होगा ?" आचार्य ने पद्मपाद की बात सुनकर कुछ मुस्कराकर कहा, "अच्छा उसे आने दो, न समझे, परन्तु वह बड़ी श्रद्धा से सब सुनता है।"

उस समय गिरि का भाग्य उदय हुआ, उसकी गुरु-भक्ति ने उसे सब विद्याओं का अधिकारी बना दिया। ग्रहण करने और धारण करने का सामर्थ्य और श्रद्धा ही अधिकारी बनाती है। उपदेश-ग्रहण करने का सामर्थ्य जिनको नहीं और गुरु में और उनके उपदेश पर श्रद्धा जिनको नहीं, वे कभी उपदेश के अधिकारी नहीं होते। ग्रहण करने का अधिकारी भी दो प्रकार का होता है।-लौकिक और शास्त्रीय। बुद्धि और संस्कृत भाषा का ज्ञान होना, विद्या ग्रहण करने के लिये लौकिक अधिकार है, परन्तु शास्त्रानुसार संस्कार न होने तक विद्या-प्राप्ति के लिये शास्त्रीय अधिकार नहीं होता। गिरि को

केवल बुद्धि और संस्कृत भाषा के ज्ञान का अभाव होने से ही विद्या ग्रहण करने का लौकिक सामर्थ्य नहीं था। उपनयनादि होने से वैदिक उपदेश ग्रहण करने में शास्त्रीय अधिकार उसे था। उस सयम अति उत्कट गुरु-भक्ति-स्वरूप श्रद्धा- द्वारा लौकिक सामर्थ्य उत्पन्न हो आया, गिरि को एक ही क्षण में यह सब हो गया। आचार्य ने गुरु-भक्ति का माहात्म्य दिखाने के लिये, शिष्यों की बुद्धिमत्ता और विद्याभिमान को दूर करने के लिये और ऐसे अबोध मनुष्य की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये इत्यादि बताने के लिए मन ही मन गिरि को सब विद्या-प्राप्ति का आशीर्वाद दिया। आशीर्वाद देने वाले के बल पर ही अभीष्ट की सिद्धि होती है और आशीर्वाद ग्रहण करने वाले के बल पर ही अमीष्ट की सिद्धि होती है और आशीर्वाद ग्रहण करने वाले के बल पर भी कभी-कभी वह उद्देश्य सिद्ध होता है, यहाँ पर दोनों ही योग्य थे। सुतरां का अनादि काल का हृदयांधकार दूर हो गया। अनादिकाल का अंधकार एकदम दीपक के प्रज्वलित होते ही नष्ट हो जाता है। यहाँ पर भी वैसा ही हुआ। गिरि गुरु-कृपा से ब्रह्म-विद्या का अधिकारी बन गया। गिरि की हृदय-कन्दरा में ब्रह्म-विद्या का प्रकाश जगमगाने लगा। गिरि उसी क्षण तोटक छन्द में एक गुरु माहात्म्य सूचक स्तोत्र की रचना करता हुआ आचार्य के वस्त्र लिये हुए आचार्य के सम्मुख आया। । सब गिरि के मुख से ऐसा अपूर्व स्तोत्र सुनकर चमत्कृत हो गये। जो मनुष्य कभी संस्कृत का वाक्य उच्चारण तक नहीं कर सकता था, उसके मुख से ऐसा स्तोत्र ! इससे अधिक आश्चर्य का विषय क्या होगा ? देखते-देखते गिरि ने आकर आचार्य के चरणों में साष्टांग प्रणाम किया। शिष्यगण सब खड़े होकर हाथ जोड़े हुए आचार्य की स्तुति करने लगे, 'भगवन्! हमारे ऊपर प्रसन्न होवें।' किसी ने कहा, "हे गुरो! हमारे प्रति भी गिरि के सदृश कृपा करें।" किसी

ने कहा, "भगवन्! आपकी ही कृपा के बल से गिरि आज कृतार्थ हो गया, आपके सिवाय हमारी गति नहीं।" कोई - कोई तो भगवान शंकराचार्य के चरण-कमलों पर मस्तक रखकर इसी प्रकार प्रार्थना करने लगे। आचार्य ने स्नेह और आशीर्वाद सबको देकर कहा, "शिष्यगण,! तुम भी गिरि के सदृश श्रद्धा सम्पन्न होवो। श्रद्धा से ही एकाग्रता होती है, श्रद्धा से मन की चंचलता नष्ट होती है, उसी से चित्त शुद्ध होता है। एकाग्र मन होने पर जिस विषय का भी ध्यान करोगे, उसी विषय का विशेष ज्ञान उदय होगा। विस्मृति, संशय, किंवा भ्रम फिर नहीं रहेंगे। हे शिष्यगण! श्रद्धा ही सब विद्याओं का मूल है। एकमात्र श्रद्धा ही पूर्ण मात्रा में होने पर फिर कोई न्यूनता नहीं रहती। जिन साधन-चतुष्टय के होने पर मनुष्य वेदान्त का अधिकारी बनता है, उनमें से कुछ भी बाकी नहीं रहता।"

ऐसा कह कर आचार्य ने गिरि के मस्तक को स्पर्श करके आशीर्वाद दिया और पास में बैठने को कहा। फिर गिरि के पास बैठने पर आचार्य ने उस पर दया की दृष्टि से देखते हुए कहा, "गिरि! तुम असीम गुरु भक्ति के बल से आज सब विद्याओं के आधार बन गये हो, तुम्हारी गुरु-भक्ति जगत् में आदर्श बनेगी।"

गिरि ने मस्तक झुकाकर आचार्य का आशीर्वाद ग्रहण किया। पद्मपाद सुरेश्वर, हस्तामलक प्रभृति सभी ने गिरि को प्रणाम किया और अन्य शिष्यों ने गिरि की पद-धूलि ली। गिरि का अब पहले जैसा भाव नहीं रहा। उसके मुख पर आज एक अपूर्व आनन्द की हँसी थी। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' उस हँसी में फूटा निकलता था। सभी कहने लगे, "धन्य गिरि ! तुम्हारी गुरु-भक्ति, और आज हम धन्य हैं कि ऐसे आचार्य और ऐसे गुरु-भक्त बन्धु हमको मिले हैं।" सब दर्शक और श्रृंगेरी के निवासी सभी विस्मययुक्त हो गये। सभी के मुख से आचार्य की महिमा की बात सुन पड़ती थी। श्रृंगेरी एक

बड़े आनन्द का क्षेत्र बन गया। तदन्तर एक शुभ दिन देखकर आचार्य ने गिरि को संन्यास-मंत्र से दीक्षित किया और गिरि का नाम तब से तोटकाचार्य विख्यात हुआ।

(७)

गुरुभक्त एकलव्य की कथा

हिरण्यधनु नामक निषादराज का पुत्र एकलव्य धनुर्वेद सीखने के लिये कौरवों और पाण्डवों के गुरु वीर्यवान द्रोणाचार्य के पास गया। धर्मज्ञ और शास्त्रों के ज्ञाता द्रोणाचार्य ने 'यह निषाद-पुत्र है', यह निश्चय करके उसे शिष्य नहीं बनाया, परन्तु द्रोणाचार्य में दृढ़ भक्ति रखनेवाले एकलव्य ने विनय और भक्तिपूर्वक अपना मस्तक झुकाकर नमन करके द्रोणाचार्य की चरण वंदना की और जंगल में जाकर द्रोणाचार्य की, मिट्टी की एक प्रतिमा बनाकर उसमें गुरु-बुद्धि रखकर नियमपूर्वक एकाग्र चित्त से धनुर्वेद सीखने लगा। श्री गुरु में उसकी परम श्रद्धा और एकाग्रता होने से उसी मृत्तिका की मूर्ति से अस्त्रों का छोड़ना, वापस बुलाना और चढ़ाना इत्यादि सब क्रियायें उसे अतिशय सहज होने लगीं, अर्थात् वह मृण्मयी मूर्ति ही चेतन-रूपवत् उसको धनुर्विद्या का शिक्षण देने लगी।

तदन्तर किसी समय शत्रुमर्दन करनेवाले कुरु-पाण्डवगण द्रोणाचार्य की आज्ञा से रथों पर सवार होकर शिकार के लिये बाहर गये। उनके साथ एक मनुष्य शिकार के लिये जाल इत्यादि लिये हुए और एक कुत्ता साथ में लिए उनके पीछे-पीछे चलने लगा। पश्चात् जब वे कौरव-पाण्डव उसी जंगल में अपना-अपना कार्य करने के लिए इधर-उधर घूम रहे थे, तब उनके पीछे आनेवाला वह कुत्ता दृष्टि से अलक्षित होकर निषाद-पुत्र एकलव्य की तरफ चला गया और उसको कृष्णवर्ण मैला-कुचैला काला चमड़ा धारण

किये हुए और जटाधारी देखकर उसके सन्मुख दौड़ा और ऊँचे स्वर में भौंकने लगा, तब निषाद-पुत्र एकलव्य ने अस्त्र-प्रयोग की कुशलताा दिखाकर जल्दी से उस भौंकते हुए कुत्ते के मुख में एक ही साथ सात बाण मारे। कुत्ता बाणों से भरे मुख सहित पाण्डवों के पास लौट आया। वीर पाण्डवों को कुत्ते की वह हालत देखकर अतिशय आश्चर्य हुआ और सभी अस्त्रों के प्रयोग करनेवाले के उस लक्ष्य नैपुण्य तथा कुत्ते के शब्दरोध को देखकर बड़े लज्जित हुए और सर्वतोभाव से उसकी प्रशंसा करने लगे। फिर पाण्डवगण ने उस अस्त्र-प्रयोग करनेवाले की ख़ोज में जाते-जाते देखा कि वह निरन्तर वाण चला रहा है। पाण्डवों ने उस विकराल-मूर्ति निषाद-पुत्र को न पहचान कर पूछा, 'आप कौन हैं; किसके पुत्र हैं?' उनके उत्तर में एकलव्य ने कहा कि हे वीरगण! मैं निषादाधिपति हिरण्यधनु का पुत्र द्रोणाचार्य का शिष्य होकर धनुर्वेद सीखने में नियत रूप से परिश्रम कर रहा हूँ। तदन्तर पाण्डव-गण वापस लौटकर द्रोणाचार्य के पास उपस्थित हुए और वह सब अद्भुत वृत्तान्त जैसा देखा था, वैसा वर्णन करने लगे।

अर्जुन ने प्रणयवश एकान्त में द्रोणाचार्य से कहा, 'हे गुरुदेव! एक बार पहले आपने मुझे आलिंगन करके प्रीतिपूर्वक कहा था कि हमारा कोई शिष्य तुझसे उत्कृष्ट नहीं होगा तब क्योंकर वीर्यवान निषादाधिपति का पुत्र आपका शिष्य होकर मुझसे ही नहीं, वरन् सारे लोक में श्रेष्ठ है।'

इसके पश्चात् द्रोणाचार्य अर्जुन को साथ लेकर एकलव्य के पास गये और देखा कि वह धनुष हाथ में लिये सदा वाण चलाता रहता है। उधर एकलव्य ने अपने गुरु द्रोणाचार्य को अपनी ओर आते देखकर उनके पास जाकर चरण-स्पर्श -पूर्वक भक्ति के साथ भूमिष्ठ होकर प्रणाम किया, फिर यथाविधि पूजन करके अपने को

उनका शिष्य बताकर परिचय दिया और हाथ जोड़कर उनके सामने खड़ा हो गया।

द्रोणाचार्य ने एकलव्य से कहा, "हे वीर! यदि तुम हमारे शिष्य हो तो तुम हमको गुरु दक्षिणा दो।" एकलव्य ने सानंद कहा, "भगवन्! आज्ञा कीजिये, क्या वस्तु प्रदान करूँ? ब्रह्मवित्! आप मेरे गुरु हैं, गुरु को मुझे कोई भी वस्तु अदेय नहीं है।" उसके उत्तर में द्रोणाचार्य ने कहा, "यदि अवश्य देने की इच्छा रखते हो तो हमको गुरुदक्षिणा में अपने दाहिने हाथ का अँगूठा दे दो।" एकलव्य सदा ही सत्य-प्रेमी था। इसलिये आचार्य द्रोण के उन दारुण वचनों को सुनकर प्रफुल्ल वदन से अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा करने में किसी प्रकार का विचार न करके उसने अपने दाहिने हाथ के अँगूठे को अस्त्र से काटकर गुरु को प्रदान कर दिया। तदनन्तर एकलव्य ने बची अंगलियों से ही बाण चलाना आरंभ किया, परन्तु पूर्ववत् तेजी से बाण चलाने में समर्थ न हो सका।

।। इति ।।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः



परमपूज्य १००८ स्वामी श्री नारायणतीर्थ जी महाराज

आविर्भाव तिथि

कार्तिक अमावस्या , संवत् १९७४



जप-साधना

(बंगला से अनुवादित)



पुरीस्थित श्रीगोवर्द्धन-पीठाधीन योगिराज
श्रीमान् परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १००८ श्री श्री शंकर
पुरुषोत्तमतीर्थ स्वामीजी महाराज

सिद्धयोगाश्रम
छोटी गैबी, वाराणसी

परमहंस परिव्राजकाचार्य
श्री श्री स्वामी शंकरपुरुषोत्तमतीर्थ जी महाराज

द्वारा

रचित पुस्तकें

- गुरुवाणी या शतोपदेश (बंगला एवं हिन्दी)
- योगवाणी या सिद्धयोगोपदेश (बंगला, हिन्दी एवं अंग्रेजी)
- जप साधना (बंगला एवं हिन्दी)
- **Who Am I** (अंग्रेजी)

प्राप्ति स्थान
श्री सिद्धयोगाश्रम
डी. ६०/२३, छोटी गैबी, वाराणसी - २२१०१०